

लेखमाला-2

चंचल चौहान

अनुक्रम

1. निराला : निराला काव्य का वैचारिक आधार
2. महादेवी : महादेवी वर्मा के गीत: उत्क्रांति की ओर
3. मुक्तिबोध : 'भूल-गलती' कविता पर विवाद
4. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : निर्वासन के दर्द का अहसास
5. शमशेर :
क : 'अमन का राग'
ख : शमशेर: 'इतने पास अपने'
6. शील :
क : अडिग प्रतिबद्धता की मशाल
ख : शील की कविता
7. त्रिलोचन की कविताई

राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन : निराला काव्य का वैचारिक आधार

हर रचनाकार की चेतना अपने समय और समाज से प्रभावित होती ही है। निराला का काव्य भी इसका अपवाद नहीं है। उनके काव्य का वैचारिक आधार मुख्यरूप से दो स्थितियों से प्रभावित हुआ। उनका रचनाकर्म छायावाद के प्रारंभिक काल से शुरू हो कर आज़ादी के बाद तक चला। इसलिए भारतीय समाज की दो स्थितियों यानी आजादी के संघर्ष के दौर की स्थिति और आज़ादी के बाद के दौर की स्थिति के वर्गीय सारतत्व को समझना ज़रूरी है क्योंकि इन दोनों ही कालखंडों के साहित्य पर समाज की वर्गीय स्थितियों का बहुत अधिक प्रभाव है। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन का वर्गीय सारतत्व क्या था? इस सारतत्व की पहचान भारतीय समाज में पैदा हुए दो नये वर्गों की पहचान से ही संभव है क्योंकि नये सामाजिक यथार्थ का अस्तित्व नये वर्गों के उदय से सीधे सीधे जुड़ता है। भारतीय समाज में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में देशी पूंजीपति और उसके साथ ही भारतीय सर्वहारावर्ग यानी ये दो नये वर्ग अस्तित्व में आये। विश्व का इतिहास इस बात का गवाह है कि पूंजीपतिवर्ग अपने उदयकाल में मुक्ति की विचारधारा को जन्म देता है। फ्रांस की 1789 की क्रांति के समय नवोदित पूंजीपतिवर्ग ने रूसो की विचारधारा के रूप में यूरोप के जनगण को यह संदेश दिया कि मनुष्य मुक्त अवस्था में पैदा होता है मगर हर जगह वह बंधनों में जकड़ लिया जाता है। इसी आधार पर उभरते पूंजीवाद ने विश्व को तीन जनवादी नारे दिये, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व। इन नारों ने नये मूल्यों का सृजन किया जिन्हें आज हम जनवादी मूल्य कहते हैं। यूरोप का पूरा साहित्यिक परिदृश्य भी इन नये मूल्यों से आप्लावित हो गया। अठारहवीं सदी का नवक्लासिकवादी साहित्य बंधनों की स्वीकृति का साहित्य था, उसका आदर्श ग्रीक और रोमन साहित्य था जिसमें मनुष्य को सीमाबद्ध दर्शाया गया था। वहां प्रोमिथियस बंधनों में जकड़ा हुआ नायक था, सीमाओं का अतिक्रमण दंडनीय था। क्लासिकवाद की विचारधारा का यह सारतत्व था। अंग्रेज़ी में भी अठारहवीं सदी के साहित्य में बार बार यह कहा जा रहा था कि मनुष्य को अपनी सीमाओं में ही रहना चाहिए। अलेग्ज़ेंडर पोप ने अपनी कविता, 'एन ऐस्से आन मैन' में इसी नवक्लासिकवाद की विचारधारा का संदेश दिया था। उस समय अनेक दार्शनिक भी मनुष्य को उसकी सीमाओं की ही याद

दिला रहे थे। साहित्य में उस समय सामंती नायकों और शहरी आभिजात्यवर्ग के ही काव्यनायकों को गौरवान्वित करने का चलन था। गांव देहात के विषय चुनना और साधारण जन को काव्यनायक बनाना उस समय लगभग वर्जित था। काव्य वस्तु ही नहीं, छंद तक का बंधन था, हर कवि एक ही छंद यानी 'हीरोइक कपलेट' में काव्य रचना कर रहा था। फ्रांस की क्रांति ने इन तमाम बंधनों को तोड़ कर कवि कल्पना को मुक्त कर दिया। नये रोमांटिक साहित्य ने नये छंद, नये विषय और नयी काल्पनिक उड़ान अपनायी।

हमारे यहां भी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जब देशी पूंजीवाद औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में आ गया तो उसे यहां का बाज़ार अपने कब्ज़े में करना था जिस पर ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग का एकाधिकार था। इस बाज़ार की मुक्ति स्वाधीनता हासिल किये बगैर संभव नहीं थी। इसलिए उभरते पूंजीवाद ने भारतीय राष्ट्रवाद की नींव डाली। इसी का प्रतिबिंब हमें साहित्य में आये नये परिवर्तनों में भी मिलता है। जहां रीतिकाल में कवि यह प्रार्थना कर रहा था कि 'मेरी भवबाधा हरौ, राधा नागरि सोय', वहीं भारतेंदुयुग में 'भारत' की चिंता साहित्य के केंद्र में आ जाती है, 'आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई, भारत दुर्दशा न देखी जाई'। यहीं यह चिंता भी मुखरित होने लगती है कि 'धन विदेस चलि जात यहै दुख भारी'। इस चेतना का ही विकास आगे चल कर मैथिलीशरण गुप्त की *भारत भारती* में होता है। यह चेतना मुख्यरूप में भारतीय पूंजीपतिवर्ग के विकास से ही जुड़ी हुई थी किंतु भारत की मुक्ति में देश के अन्य सभी वर्गों के हित भी समाहित थे, इसलिए यह चेतना सभी वर्गों की चेतना मालूम हो रही थी। ऐतिहासिक रूप से भारत की मुक्ति दो ही वर्गों के नेतृत्व में संभव थी जो नये वर्ग थे। ये वर्ग थे औद्योगिक पूंजीपतिवर्ग और उसी की उत्पत्ति के साथ जुड़ा हुआ सर्वहारा वर्ग। चूंकि हमारे यहां विश्वयुद्ध के दौरान पूंजीपतिवर्ग सशक्त हो गया था, इसलिए मुक्ति का नेतृत्व करने में वही ज़्यादा कारगर था, सर्वहारावर्ग तो 1925 के आसपास ही राजनीतिक रूप से संगठित हो कर सक्रिय हो पाया था, जबकि चीन का पूंजीपतिवर्ग वहां की आज़ादी की लड़ाई के वक़्त काफ़ी कमज़ोर था, उसका चरित्र 'कंप्राडोर पूंजीपतिवर्ग' का था। इसलिए वहां ऐतिहासिक रूप से मुक्ति की लड़ाई सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में लड़ी गयी। लेकिन मुक्ति की कामना ने वहां भी साहित्य को प्रभावित किया। हमारे यहां देश की मुक्ति की संवेदना ने ही प्रेमचंद जैसा महान कथाकार पैदा किया, चीन में उसी संवेदना ने लू शुन को निर्मित किया। चीन में स्वाधीनता की लड़ाई सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में लड़ी गयी, इसलिए वहां सामंतवाद के खिलाफ़ भी संघर्ष संभव हो सका, हमारे यहां सामंतवाद के खिलाफ़ निर्णायक लड़ाई अभी तक नहीं लड़ी गयी। प्रथम स्वाधीनता संग्राम का

तो नेतृत्व ही सामंतों ने संभाला जिसकी वजह से उन्हें और अधिक गौरव हासिल हो गया। नतीजा यह हुआ कि मुक्ति संग्राम को प्रेरित करने के लिए अतीत की गौरवगाथा का सहारा लेना पड़ा। विचारधारात्मक स्तर पर हमारे यहां यह एक जटिलता की स्थिति थी कि पूंजीवादी नेतृत्व को सामंती विचारों से समझौता करना पड़ा और उनको प्रतीकों के रूप में इस्तेमाल करना पड़ा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भी साधारण जन में उभारे गये इस अतीतप्रेम का फायदा उठाया और उसने हिंदू गौरव और मुस्लिम गौरव को हवा दी। एक ओर हिंदू महासभा और आर एस एस जैसी संस्थाओं ने देश की नयी उभरती एकता के लिए समस्या पैदा की तो उसी के जवाब में मुस्लिम लीग की स्थापना भी हो गयी। दोनों ने ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ें भारत में मजबूत करने में अपनी भूमिका निभानी शुरू की। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति के तहत इन संगठनों को मदद पहुंचाना शुरू किया।

अतीतप्रेम की इस जटिल परिस्थिति का असर रचनाकारों पर भी पड़ा। भारतेंदु हरिश्चंद्र से ले कर आज तक बहुत से रचनाकार जो अतीतप्रेम में आलिप्त हो जाते हैं अक्सर हिंदू सामंतों के समय की विचारधाराओं को ही 'भारतीय मनीषा' कह कर महिमामंडन में जुट जाते हैं, अन्य कलाओं और सांस्कृतिक सवालों में भी वे हिंदुओं से इतर समुदायों के मनीषियों, कलाकारों आदि को गिनती में नहीं लाते। सांप्रदायिकता का यह छिपा ज़हर काफ़ी गहरे में आज तक हमारे समाज की चिंतनप्रणाली में निहित है। निराला की कविताओं में भी भारतीय नवजागरण की विचारप्रणालियों के अंतर्विरोध हैं, इसलिए उनकी सारी कविताओं का वैचारिक आधार एक ही नहीं है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' शीर्षक कविता का वही वैचारिक आधार नहीं है जो 'बादल राग' या फिर 'राजे ने अपनी रखवाली की' जैसी कविताओं का है, हालांकि मुक्ति की कामना तीनों ही कविताओं में धागे की तरह पिरोयी हुई है जोकि इस दौर का आधारभूत मूल्य है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' (वस्तुगत रूप में निराला के मन में चाहे जो कुछ रहा हो वह यहां महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि कवि के मंतव्य की तलाश विकसित काव्यालोचन का काम भी नहीं है) उसी अतीत के सांप्रदायिक वैचारिक आधार की ही कविता ठहरती है जिसका पोषण राजे महाराजे करते रहे, अंग्रेज शासक भी करते रहे और स्वाधीन भारत में शोषक शासकवर्ग आज भी कर रहे हैं। 'बादल राग' कृषक-मुक्ति की विचारधारा की कविता है, जबकि 'राजे ने अपनी रखवाली की' का वैचारिक आधार मजदूरवर्ग की विचारधारा यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की की चेतना का हिस्सा जैसा है जो आधार और उपरिसंरचना का सिद्धांत प्रतिपादित करती है आइए, इन तीनों कविताओं के आलोचनात्मक विमर्श को सामने रख कर इस अंतर

को पहचानने की कोशिश की जाये।

पहले 'महाराज शिवाजी का पत्र' को लिया जाये। यह कविता एक नाटकीय एकालाप है जिसका वाचक शिवाजी है। शिवाजी का एक शत्रु है जिसे काव्यनायक इसलिए परास्त नहीं कर पा रहा क्योंकि शक्तिसंतुलन शत्रु के पक्ष में है। इसलिए वाचक शत्रु के खेमे से जयसिंह को तोड़ कर जातीय एकता के आधार पर नया शक्तिसंतुलन बनाना चाहता है। शत्रु पर विजय के लिए यह एक कारगर रणनीति है। 'राम की शक्ति पूजा' में भी शक्ति पूजा का अर्थ जनशक्ति को अपने पक्ष में करके शक्ति संतुलन रावण के खिलाफ बनाना ज़रूरी था। इस कविता का वस्तुगत वैचारिक आधार इसलिए गड़बड़ा जाता है क्योंकि कवि ने इतिहास से जो प्रतीक चुना उसका टकराव 'मोगल दल' से था, ऐसे चुनाव के कारण कविता की स्वायत्त सत्ता में उसकी रंगत सांप्रदायिक हो गयी क्योंकि तब नया शक्तिसंतुलन कविता ने हिंदू बनाम मुसलमान बना दिया:

फैले संवेदना
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय
एक ओर हिंदू एक ओर मुसलमान हों
देखो परिणाम फिर
स्थिर रहेंगे न पैर यवनों के
पस्त हौसला होगा
ध्वस्त होगा साम्राज्य

हालांकि उक्त कविता में इन पंक्तियों के बाद ही वाचक अपना समसामयिक मुद्दा, 'दासता के पाश कट जायेंगे' को ले आता है, मगर कविता में खेमों का जो सांप्रदायिक ध्रुवीकरण हो गया है उससे कविता का वैचारिक आधार अनजाने ही सांप्रदायिक विचारधारा का हो गया है जो कि भारत की स्वाधीनता की लड़ाई और उसके भावी विकास के लिए खतरनाक विचारधारा थी। इतना ही नहीं, कविता का अंत उस वर्णाश्रम संहिता की विचारधारा से परिचालित हो गया है जो मनुष्य और मनुष्य के बीच असमानता के दर्शन पर टिकी हुई है और इसलिए जनवादी विचारभूमि के प्रतिकूल तो वह है ही, हमारे यहां के भक्ति साहित्य के रचनाकारों-सूफी संतों तक की मानववादी विचारधारा के भी खिलाफ है :

चमकेंगे खड्ग तब
विद्युति बार बार
खून की पियेंगी धार
संगिनी सहेलियां भवानी की ,

धन्य हूंगा, देव-द्विज-देश को
सौंप सर्वस्व निज

निराला के 'देव,द्विज' के बारे में और मुसलमानों के बारे में घोषित विचार इस कविता में प्रतिफलित विचारों से बिल्कुल उलट हैं। निराला ने अपने घोषित विचारों में कहीं भी न तो 'देव, द्विज' को ऐसा गौरव प्रदान किया है और न ही मुसलमानों को इस तरह व्याख्यायित किया है। डा. रामविलास शर्मा ने, *निराला की साहित्य साधना* के द्वितीय खंड में 'विचारधारा' शीर्षक भाग में 'राष्ट्रीय एकता और मुसलमान' नामक खंड में जो उद्धरण दिये हैं उनसे यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि निराला के घोषित विचार कृतई सांप्रदायिक नहीं थे, वे भारत में बसे सभी धर्मों के लोगों को और विभिन्न जातीयताओं को भारतीय मानकर उनकी एकता की कामना करते थे। इसी तरह अपने घोषित विचारों में 'देव, द्विजों' को गौरवान्वित न करके वे मनुष्य और मनुष्य की बराबरी के पक्ष में थे। मगर उक्त कविता में से निकलने वाली वस्तुगत रूप से प्रकट विचारधारा कवि से स्वतंत्र हो कर बिल्कुल उलट हो गयी। रचनाप्रक्रिया में ऐसा होता है।

अब उनकी प्रसिद्ध कविता 'बादल राग' को देखा जाये। इस कविता में छः कविताएं हैं। ज़्यादातर आलोचकों ने इन्हें अलग अलग रंगत और अलग अलग भावभूमि की कविताएं कहा है। निराला ने खुद भी अपनी एक व्याख्या या अपना एक 'पाठ' प्रस्तुत किया है और उन्होंने इसकी अर्थ-बहुलता का संकेत दिया है, उन्होंने इसकी काव्यवस्तु के रूप में 'बुराई के खिलाफ़ बगावत' को रेखांकित किया है। छः कविताओं में से आलोचकों ने दूसरी और छठी कविता को ही ज़्यादा महत्व दिया है क्योंकि वे यह मानकर चलते हैं कि अन्य कविताओं की भावभूमि अलग है। दूधनाथसिंह ने अपनी पुस्तक, *निराला : आत्महंता आस्था* में लिखा, 'बादल राग की सभी कविताएं इस विप्लव की भूमिका में नहीं रखी गयी हैं। सबकी भावभूमि अलग अलग हैं', फिर आगे कहा, 'बादल राग क्रम की दूसरी तथा छठी - ये दो कविताएं क्रांति की भूमिका से संबद्ध हैं। (पृ. 238) लगभग इसी तरह की बात डा. दिनेश्वर प्रसाद ने इन कविताओं पर लिखे अपने एक लेख में कही है और उन कविताओं का एक अपना 'पाठ' भी इसी नज़रिये से कर डाला है। यह ज़रूर है कि उन्होंने पहली कविता को भी दूसरी और छठी कविता की संवेदना से जोड़ा है, मगर तीसरी, चौथी और पांचवीं कविता को इस केंद्रीय संवेदना से काटकर सतही तौर पर व्याख्यायित कर डाला है और पांचवीं कविता में तो बादल को 'परमात्मा के व्यक्त रूप का प्रतीक' ही बता दिया। (*निराला : आलोचकों की दृष्टि में*, पृ.91)

दर असल, 'बादल राग' शीर्षक कविताएं एक ही वैचारिक आधार की

कविताएं हैं, बिंबों और टोन के आधार पर उन्हें अलग अलग भावभूमि की कविताएं मानना सही नहीं होगा। कविताओं का वाचक दूसरी कविता की अंतिम पंक्ति में कहता है, 'गरजो विप्लव नव जलधर'। इस 'नव जलधर' को सामाजिक विकास के वैज्ञानिक ज्ञान के बिना सामान्यतया नहीं समझा जा सकता। मैंने जैसा कि कहा है कि भारत के स्वाधीनता समर के नेतृत्व की ऐतिहासिक तौर पर ज़िम्मेदारी दो ही वर्ग जो कि नये वर्ग के रूप में उभरे थे निभा सकते थे, एक तो नवोदित पूंजीपतिवर्ग जिसे इस उपमहाद्वीप का बाज़ार अपने लिए मुक्त कराना था, दूसरा सर्वहारावर्ग जो ऐतिहासिक रूप से किसानों समेत अन्य सभी वर्गों को शोषण की विभीषिका से मुक्त कराके एक शोषणविहीन समाज बनाने की ज़िम्मेदारी निभा सकता है। जिस दौर में यह कविता लिखी गयी थी उस दौर में सोवियत क्रांति द्वारा सर्वहारावर्ग ने यह सत्य साबित भी कर दिया था। निराला की कविता में यही वर्ग 'नव-जलधर' के रूप में संबोधित है। भारत में भी सर्वहारावर्ग से उम्मीद की जा रही थी कि वही हमारे मुक्ति संग्राम का नायक बनेगा। पर चौथी कविता में यह सचाई भी प्रतिबिंबित होती है कि वह अभी 'शिशु' अवस्था में ही है: 'बधिर विश्व के कानों में/भरते हो अपना राग/मुक्त शिशु! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग।' चौथी कविता का 'मुक्त शिशु' नवोदित सर्वहारावर्ग का ही प्रतीक है। भारत में वह तब तक संगठित नहीं हो पाया था। विश्वसाहित्य में मुक्ति की विचारधारा से अनुप्रेरित होने वाले साहित्य में 'शिशु' या 'बालक' का बिंब बार बार आया है। फ्रांस की क्रांति ने मुक्ति का संदेश यूरोप के समाज को दिया था तो वहां भी कविता में और बाद में उपन्यासों में भी 'शिशु' या 'बालक' आया था क्योंकि 'शिशु' किसी को गुलाम नहीं बनाता, वह स्वच्छंद कल्पना और निश्छलता का रूप होता है। इसी रूप में वह अंग्रेजी कवि विलियम ब्लेक की कविताओं में पहले आया फिर वर्डस्वर्थ और अन्य कवियों में। चार्ल्स डिक्केंस के उपन्यासों में किसी न किसी बाल पात्र के रूप में भी वह मिलता है। हमारे यहां मुक्ति की नयी विचारधारा - मार्क्सवाद-लेनिनवाद - के प्रभाव में मुक्तिबोध ने जो कविताएं लिखीं उनके केंद्र में भी 'शिशु' बार बार आता है। (देखें, मेरी पुस्तक, *मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.2)

इस तरह बारीकी से निराला के 'बादल राग' की कविताओं को देखें तो उसमें मुक्ति की विचारधारा का सूत्र पिरोया हुआ मिलेगा। तीसरी और पांचवीं कविताएं भी इसी मुक्ति की संवेदना से जुड़ी हुई कविताएं हैं। तीसरी कविता में बादल एक त्यागी और कर्मरत क्रांतिकारी के रूप में पेश किया गया है जो अपनी धरती को गुलामी से मुक्त कराने के लिए 'सेवा पथ पर' चला जाता है 'छोड़ अपना परिचित संसार।' कविता यह संदेश भी देती है कि कि 'वीरभोग्या' वसुंधरा 'उस अरण्य में

बैठी प्रिया अधीर' है और 'स्वर्ग के अभिलाषी ऐ वीर' का इंतज़ार कर रही है। वाचक आश्वस्त है कि उस वीर को उसकी प्रिया मिलेगी। अपनी संरचना में तीसरी कविता प्रेम कविता लगती है जिसमें अंग्रेज़ी के मध्ययुगीन रोमांस विधा की झलक मिलती है और हिंदी के भी मध्ययुगीन राम-सीता या राधा-कृष्ण के मिथकीय रोमांस की छायाएं भी हैं, मगर इस कविता का वैचारिक आधार मुक्ति की संवेदना से बिल्कुल अलग नहीं हुआ है जैसा कि बहुत से आलोचकों को लगता है। 'बादल राग' की पांचवीं कविता भी इसी संवेदना की एक कड़ी है। इस कविता में वाचक बार बार 'नयन' का बिंब लाता है, 'निरंजन बने नयन अंजन'। नयन में अंजन से शोभा भी बढ़ती है और ज्योति भी, ऐसी मान्यता है। निराला काव्य में 'नयन' के बिंब का बहुत ही सार्थक प्रयोग जगह जगह मिलेगा। दर असल, मुक्ति की विचारधारा ही इस कविता में 'नयन' का 'अंजन' है जिसे आज कर नयी ज्योति प्राप्त की जा सकती है। वाचक जानता है कि 'विप्लव' की विचारधारा के बगैर यानी क्रांतिकारी विश्वदृष्टि के बगैर स्वाधीनता प्राप्ति संभव नहीं। पांचवीं कविता के बिंब इसी दृष्टि की महत्ता को सूचित करते हैं, इसीलिए बार बार यह पंक्ति आती है कि 'बने नयन अंजन'।

'राजे ने अपनी रखवाली की' कविता स्पष्टतः वर्ग-विभाजित समाज में शोषकवर्ग के वर्चस्व से जुड़ी असलियत खोलती है। वाचक ने इस कविता में शोषण के वर्ग आधार और उस पर खड़ी संरचना या सुपरस्ट्रक्चर के चरित्र को उद्घाटित किया है। राजा अपनी रखवाली क़िला बनाकर, फ़ौजें रखकर तो करता ही है, वह आम जनता को मानसिक रूप से गुलाम बनाकर भी रखता है :

कितने ब्राह्मण आये
पोथियों में जनता को बांधे हुए
कवियों ने उसकी बहादुरी के गीत गाये
लेखकों ने लेख लिखे
ऐतिहासिकों ने इतिहास के पन्ने भरे
कितने नाट्य-कलाकारों ने नाटक रचे
रंगमंच पर खेले।

जनता पर जादू चला --राजे के समाज का

समाज में शोषकवर्गीय आधार, 'राजे' और उसे मज़बूत करने वाले सुपरस्ट्रक्चर यानी विचार, साहित्य, कला, क़ानून, संस्कृति, धर्म आदि, के इस रिश्ते को उक्त कविता का वाचक खोल देता है। इसी तरह, मुक्तिबोध की कविता, 'अंधेरे में' का वाचक भी इसी असलियत को अपने समय और समाज में देखता है। वह शोषकवर्गों का 'विचित्र प्रोसेशन' उस वक़्त देखता है जब 'सब सोये हुए हैं'। उस 'प्रोसेशन' में

शामिल हैं:

कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल
 कई सेनापति सेनाध्यक्ष
 चेहरे वे मेरे जाने बूझे से लगते,
 उनके चित्र समाचार पत्रों में छपे थे
 उनके लेख देखे थे
 यहां तक कि कविताएं पढ़ी थीं
 भई वाह!
 उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण
 मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान
 यहां तक कि शहर का हत्यारा कुख्यात
 डोमाजी उस्ताद

(मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ. 329-30)

निराला की अपनी विचारधाराओं का विकास हुआ होगा, अपने अनुभव, अपने चिंतन, अध्ययन और दोस्तों के संग साथ से। उन्होंने तरह तरह के विचारों को आत्मसात किया होगा जैसा कि हर कवि के साथ होता है। मगर उनकी कविताओं का वैचारिक आधार उनके घोषित विचारों का पद्यानुवाद हो, यह ज़रूरी नहीं। सचाई यह है कि हर कविता समाज सापेक्ष वैचारिक आधार रखती है, उसे कविता की सापेक्ष स्वायत्तता में ही तलाश करना सही आलोचना होगी। हमारी हिंदी आलोचना में, दर असल, होता यह रहा है कि उसके वैचारिक आधार को निराला के निजी जीवन में तलाश किया जाता रहा है। यह हिंदी आलोचना की एक त्रासदी ही है कि अभी तक कविता को रचनाकार के 'मन' का विश्लेषण करने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है, और इसी को 'मार्क्सवादी आलोचना' मनवाया जाता रहा है। यहां यह अनुचित न होगा यदि हिंदी आलोचना की इस बीमारी का, खासकर निराला के काव्य की आलोचना के संदर्भ में, थोड़ा ज़ायजा ले लिया जाये।

निराला के जीवन और साहित्य पर डा. रामविलास शर्मा ने सबसे अधिक लिखा है। उनकी आलोचना पद्धति को बारीकी से देखें तो वहां एक शब्द बार बार आता है: 'निराला का मन' या 'निराला स्वयं'। कहीं वे लिखते हैं, 'निराला के मन में गंध के प्रति प्रबल आर्काण है'। फिर शूर्पणखा के एक कथन से 'गुलाब' का उदाहरण देते हुए 'शूर्पणखा के मन में राम का सौंदर्य गुलाब जैसा' बताते हैं और दो पंक्तियों का उद्धरण दे कर टिप्पणी करते हैं कि 'यहां कवि के मन में गुलाब के प्रति कोई ऐसा मोह नहीं है जिसे भंग करना आवश्यक हो।' निराला की कविता,

‘स्फटिक शिला’ की व्याख्या करते समय जहां वे निराला द्वारा ‘एक सद्यस्नाता युवती का चित्रण’ बताते हैं वहीं यह भी कहते हैं कि ‘रवींद्रनाथ की विजयिनी यहां फिर अवतरित हो गयी है’, मगर इस वस्तुगत काव्यवस्तु को कुछ ही पंक्तियों के बाद निराला के व्यक्तिगत जीवन से जोड़ देते हैं, ‘स्वयं कवि उसके सौंदर्य का प्रत्यक्षदर्शी है’। फिर निराला के ‘मन’ पर आ जाते हैं और कहते हैं, ‘मोह और मोहभंग के बीच निराला का मन जैसे झूलता था, यह कविता उसका प्रमाण है। डा. रामविलास शर्मा की आलोचना-पद्धति का यह मूल स्वर रहता है कि वे कवि की कविताओं को उसकी निजी जिंदगी से या उसके ‘मन’ से जोड़ते हैं। ‘राम की शक्तिपूजा’ जैसी नाटकीय कविता को भी वे निराला के ‘मन’ से जोड़ देते हैं। उन्होंने लिखा है कि ‘राम की शक्तिपूजा’ लिखते समय निराला का मन एक ओर पराजय, ग्लानि, विजयकामना के संघर्ष में उलझा हुआ था, समुद्रतट पर अंधकार में वानर सेना के बीच विपर्यस्त लटों वाले राम को देख रहा था, दूसरी ओर अब तक जो पढ़ा-गुना था, उसे समेटकर - उसके सारतत्व को ले कर - काव्यचित्रों को सजा रहा था।

इसी तरह, *अनामिका* की एक कविता की व्याख्या करते हुए डा. रामविलास शर्मा निराला के जीवन को बेवजह बीच में ले आते हैं। कविता में ‘सूखी भूमि, सूखे तरु, सूखे तिक्त आलवाल’ जैसे बिंब किसी सार्वभौमिक और सामाजिक स्थिति का बोध कराते हैं, मगर डा. शर्मा कहते हैं कि ‘इस साहित्यिक संघर्ष का केंद्र निराला स्वयं थे...‘जला है जीवन यह’...निराला का जीवन जला है...निराला के मन की आशाएं, विषाद, उल्लास, निराशा, वीरतापूर्ण कर्म, त्रास, दुःस्वप्न -- यह सब कुछ कहीं न कहीं हिंदी के इस आंतरिक संघर्ष से जुड़ा हुआ है।’

साहित्य समीक्षा की यह जीवनीपरक या मनोविश्लेषणवादी पद्धति दुनिया भर में खारिज की जा चुकी है क्योंकि इसमें काफी कुछ मनमानापन बरते जाने की गुंजाइश रहती है जबकि रचनाकार के ‘मन’ का या ‘जीवन’ का जटिलताभरा स्वरूप उसके जीवनकाल में भी जानना किसी मनोविश्लेषणशास्त्री के लिए भी आसान नहीं होता, मृत्यु के बाद सिर्फ काव्यभाषा से उसे विश्लेषित करना तो और भी अप्रामाणिक होगा क्योंकि काव्यभाषा तो अपनी प्रकृति में ही बहुलार्थक होती है। काव्यभाषा के इस गुण के बारे में भारतीय काव्यशास्त्र में भी और पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांतों में भी काफी कुछ कहा गया है। हिंदी आलोचना की यह त्रासदी है कि निराला की काव्यभाषा के वस्तुगत अस्तित्व को अनदेखा करके निराला के ‘मन’ या ‘जीवन’ पर ज़्यादा लिखा गया है। डा. रामविलास शर्मा ने जो शुरुआत की है वह हिंदी में अभी तक चली आ रही है। यहां तक कि दूधनाथ सिंह ने भी अपनी किताब, *निराला : आत्महंता आस्था* में इस पैटर्न को नहीं त्यागा, हालांकि रामविलास जी के मुक़ाबले उन्होंने कहीं ज़्यादा गहराई से निराला की रचनाप्रक्रिया को विश्लेषित

किया। मगर, डा. शर्मा की ही तरह वे भी निराला के जीवन पर बल देने का नजरिया नहीं छोड़ पाये, 'उनका सारा जीवन सांसारिक दृष्टि से असफल, अव्यवस्थित, विश्रुंखल, अतिशय अव्यावहारिक और दुखद रहा है। आर्थिक विपन्नता इसमें प्रमुख रही है। इस सांसारिक दुखद नियति के आगे हार जीत की द्वंद्वपूर्ण मनःस्थिति और उसका अंतस्ताप ही निराला की रचनात्मकता की मुख्य दिशा बन गयी है। (पृ. 14) यह देखकर हैरानी होती है कि 'बादल राग' जैसी नाटकीय रचना को भी दूधनाथ सिंह ने निराला के 'आत्म' से या 'निजी जीवन' से जोड़ दिया। वे लिखते हैं : 'निराला ऋतु के माध्यम से अपने जीवन-बिंब को ही बार बार अवतरित करते हैं, उसे पाते हैं और उसे खो देते हैं।' (पृ. 23) इसी तरह 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविता जो भारत के स्वाधीनता समर की एक महान फैंटेसी है पुनः निराला के वैयक्तिक जीवन से जोड़ दी गयी है। दूधनाथ सिंह लिखते हैं : 'दर असल मुझे बराबर लगता है कि निराला ने राम के संशय, उनकी खिन्नता, उनके संघर्ष और अंततः उनके द्वारा शक्ति की मौलिक कल्पना और साधना तथा अंतिम विजय में अपने ही रचनात्मक जीवन और व्यक्तिगतता के संशय, अपनी रचनाओं के निरंतर विरोध से उत्पन्न आंतरिक खिन्नता, फिर अपने संघर्ष, अपनी प्रतिभा के अभ्यास, अध्ययन और कल्पना-उर्जा द्वारा एक नयी शक्ति के रूप में उपलब्ध और प्रदर्शित करके अंततः रचनात्मकता की विजय का घोष ही इस कविता में व्यक्त किया है। वही स्वयं 'पुरुषोत्तम नवीन' हैं।' (वही, पृ.116)

इसी तरह डा. परमानंद श्रीवास्तव भी 'राम की शक्तिपूजा' में निराला का निजी जीवन ढूँढते हैं। वे लिखते हैं, 'अन्याय जिधर, है उधर शक्ति' कह कर निराला अपने ही जीवन के दुर्भाग्य की विडंबना प्रकट कर रहे थे।' (देखिए, साहित्य अकादमी द्वारा तैयार करवाया गया मोनोग्राफ, *निराला*, पृ.18) इसी तरह वे निराला की 'मैं शैली' को 'आत्म साक्षात्कार' या 'आत्म संघर्ष के हवाले करके आलोचना का वही पैटर्न अपनाते हैं जिसे दुर्भाग्यवश हिंदी झेल रही है। वे लिखते हैं, 'निराला के काव्य संसार में आत्मसंघर्ष और आत्मसाक्षात्कार के अनुभवचित्र अनेक हैं और उनके आधार पर देखा जा सकता है कि निराला का 'मैं' लगातार शेष संसार को वास्तविकता से टकराता है। (वही,पृ.29) यही बात वे निराला के गीतों के बारे में भी लिखते हैं, 'आत्म-साक्षात्कार या आत्मसंघर्ष के अनुभव निराला के गीतों में बिखरे पड़े हैं। आत्मसाक्षात्कार एक तरह से निराला के गीतों के केंद्र में है। (वही, पृ.38) चलो, गीतों को कोई भ्रमवश 'लिरिकल' कविताएं मान भी सकता है, मगर डा. परमानंद श्रीवास्तव तो निराला की लंबी कविताओं के बारे में भी 'निराला का जीवन संघर्ष' वाला राग ही अलापते हैं, वे लिखते हैं, 'इनका महत्व इसलिए भी है कि इनके भीतर

निराला के जीवन संघर्ष का मार्मिक साक्ष्य मिलता है। (वही,पृ.57)

चलते चलते हिंदी आलोचना की एक और बुरी आदत को रेखांकित कर दिया जाये जो निराला की कविताओं पर लिखते समय भी हर आलोचक ने लगभग अपनायी है। यह प्रवृत्ति अपने चहेते रचनाकार को श्रेष्ठतम सिद्ध करने के चक्कर में दूसरे रचनाकारों को नीचा सिद्ध करने की है। निराला पर लिखते समय डा. रामविलास शर्मा बाकी सारे कवियों को हेटा या गया गुज़रा सिद्ध करते हैं। निराला की भाषा की शक्ति की तारीफ़ करते समय वे लिखते हैं कि उनके समय के जो अन्य कवि हैं, 'वे निराला से बड़े कवि नहीं, उनकी भाषा में वह शक्ति नहीं जो निराला की भाषा में है' (*निराला की सा.सा.-2*, पृ. 408) निराला के छंदों की स्वच्छंद लय के विकास के बारे में लिखते समय टिप्पणी करते हैं, 'हिंदी में उसका जैसा विकास निराला में हुआ है, वैसा अन्य कवि में नहीं' (पृ.444) इसी तरह कहीं निराला को लांजाइनस से बड़ा, कहीं शेक्सपीयर के समकक्ष सिद्ध करते हैं। *अभिप्राय* पत्रिका के अंक-20 में जीवनसंध्या के दिनों इंटरव्यू में निराला और मुक्तिबोध की तुलना करते हुए डा. शर्मा ने दुहराया, 'मुक्तिबोध किसान आंदोलन से कटे हुए थे। उनकी कृति 'अंधेरे में' असामान्य मनोदशा की रचना है। अब कोई एबनार्मैलिटी को ही मार्क्सवाद की उपलब्धि कहे तो हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं? इसके विपरीत निराला अपने समय में सामाजिक सरोकारों से सर्वाधिक रूप से कवियों में प्रथम ठहरते हैं। मुक्तिबोध कहीं भी निराला के समक्ष नहीं ठहरते। यह आज भी मेरा मानना है। (पृ. 47) इस छोटे से आलोचना अंश में गौर से देखें तो हिंदी आलोचना की दोनों बुरी आदतें यानी 'मनोदशा' तलाशने और किसी औरों को नीचा सिद्ध करने की प्रवृत्तियां मौजूद हैं, वह भी प्राध्यापकीय अंदाज़ में, कौन छात्र 'प्रथम' ठहरता है और कौन हेटा। यह आलोचना प्रवृत्ति दूधनाथसिंह में भी है। उन्होंने निराला की प्रेम कविताओं को व्याख्यायित करते समय उनकी तुलना कबीर, जायसी, और रवींद्रनाथ ठाकुर से की है और यह दर्शाया है कि ये सारे रचनाकार निराला के मुक़ाबले कमज़ोर थे। (देखिए, *निराला: आत्महंता आस्था*, पृ. 33-34) परमानंद श्रीवास्तव भी इस मामले में पीछे नहीं रहे, उन्होंने भी प्राध्यापकीय अंदाज़ में लिख दिया, 'पूरे छायावाद युग में और संभवतः छायावादोत्तर युग में भी निराला जैसी प्रतिभा का दूसरा रचनात्मक लेखक नहीं है। निराला हर तरह से हिंदी की जातीय रचनात्मक परंपरा के अद्वितीय लेखक हैं'। (*निराला का मोनोग्राफ़*, पृ. 21)

हिंदी आलोचना की उक्त दो सीमाओं का उल्लेख यहां करना मुझे ज़रूरी लगा क्योंकि अब समय आ गया है कि 21वीं सदी में हम बेहतर आलोचना ज्ञान से अपने साहित्य को समृद्ध करें और इन प्राध्यापकीय कमियों को और आगे न घसीटें

जैसा कि कुछ नये मुंडित आलोचक भी यही सब करते दिखायी देते हैं। पश्चिम में रोलां बार्थ ने अपने यहां प्रचलित इस तरह की प्राध्यापकीय आलोचना के खोखलेपन को उजागर किया था जिसमें कवि के व्यक्तित्व या जीवनी या उसके मन को खंगालने की अवैज्ञानिक कोशिश की जाती थी। उसने यह भी कहा था कि यह प्रवृत्ति सिर्फ यूरोप के साहित्यालोचन में ही नहीं, अन्य देशों के साहित्य में भी हैं। उसने अस्तित्ववादियों की 'व्यक्तित्व' की अवधारणा को विखंडित कर दिया और कहा कि कवि का एक व्यक्तित्व नहीं, बहुत सारे व्यक्तित्व होते हैं। इसलिए उसने रचना को उसके समय और समाज से सापेक्ष करार दे कर नया भाष्य देने को ही आलोचना माना और काव्यभाषा के बहुलार्थक होने की विशेषता को रेखांकित किया।

निराला जिस समाज और समय में रचनाकर्म कर रहे थे उस समय तक हिंदी भाषा का जो विकास हो पाया था, उसे और आगे तक ले जाने के उद्देश्य से भाषा के बारे में भी उन्होंने काफ़ी चिंतन किया था। स्वाधीन होने की यह आकांक्षा ही प्रेरक शक्ति थी जो आगे बढ़ने के लिए बाध्य कर रही थी। हालांकि रोलां बार्थ का चिंतन बहुत बाद में यानी सातवें दशक में प्रकाश में आया, निराला की अपनी भी भाषा संबन्धी कुछ मान्यताएं आश्चर्यजनक रूप से रोलां बार्थ की मान्यताओं से मिलती हैं। भाषा की बहुलार्थक प्रकृति के बारे में उन्होंने संस्कृत की उक्ति, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदति' का सहारा ले कर लगभग वही बात कही जिसे रोलां बार्थ ने प्राध्यापकीय आलोचना को विखंडित करते वक्त लिखा। निराला ने ज़्यादा सैद्धांतिक वाग्जाल में न उलझते हुए तुलसीदास, गालिब, मीर, नज़ीर अकबरावादी की रचनाओं का अपना भाष्य या 'पाठ' प्रस्तुत किया। हलके फुलके तरीके से ही सही, उन्होंने दुलारेलाल भार्गव के एक दोहे के छः अर्थ यानी उत्तरआधुनिक भाषा में 'पाठ' प्रस्तुत किये और साथ ही यह लिखा, 'इस दोहे के यहां छः अर्थ मैंने किये हैं, और भी अनेक होते हैं। अभी यहां इतने ही दिये, विचारशील पाठक अर्थों की सार्थकता देखें।' (निराला ग्रंथावली, सं. ओंकार शरद, भाग-1, पृ. 562)

भाषा की बहुलार्थक प्रकृति की ही तरह एक और विचार भी रोलां बार्थ से मिलता है, वह है काव्यभाषा में सरल और सपाट भाषा की मांग का विरोध। रोलां बार्थ इस मांग को पूंजीपतियों के पक्ष में देखता है जो अखबारों और अन्य माध्यमों से भाषा को सरल और सपाट बनाकर उसकी रचनात्मकता को नष्ट करते हैं। उसने कहा कि प्रतिरोध की भाषा जटिल होगी ही। निराला ने भी हिंदी में 'सरल सरल' की गुहार लगाने वालों को डांटा और लिखा, 'हिंदी की सरलता के संबंध में बकवास करने वाले लोगों में अधिकांश को मैंने देखा - लिखते बहुत हैं, जानते बहुत थोड़ा हैं।' आगे उन्होंने लिखा कि जिन बड़े बड़े साहित्यिकों से समाज का वास्तव में

कल्याण हुआ है, 'उन प्राचीन बड़े बड़े साहित्यिकों की भाषा कभी जनता की भाषा नहीं रही। सोलह आने में चार आने जनता के लायक रहना साहित्य का ही स्वभाव है। (वही, पृ. 462-63) निराला के भीतर यह आकांक्षा कि हिंदी साहित्य को महान साहित्य देना कवियों का कर्तव्य है, दर असल, भारतीय मुक्ति संग्राम से ही निसृत हो रही थी। वे अन्य समकालीनों की तरह ही अपने साहित्य को विश्वस्तर के साहित्य के समकक्ष ले जाने के लिए प्रयत्नशील थे। यह काम अन्य कलाओं में भी उस दौर में हो रहा था। इसलिए निराला की रचनात्मकता को स्वाधीनता के समर से जोड़ कर देखना परखना सही होगा, उनके निजी जीवन या राग द्वेष की छवियां ढूंढना उनके काव्य के साथ अत्याचार करना होगा ।

महादेवी वर्मा के गीत : उत्क्रांति की ओर

महादेवी वर्मा छायावाद के उन महान रचनाकारों में से एक हैं जिन्होंने हिंदी साहित्य को एक नयी ऊंचाई तक पहुंचाया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति की आकांक्षा ने हमारे यहां भी उसी तरह से रोमांटिक साहित्य को जन्म दिया जिस तरह पश्चिम में सामंतवाद से मुक्ति की आकांक्षा के फलस्वरूप घटित हुई फ्रांस की क्रांति ने मुक्तिकामी साहित्य को पैदा किया था। समानता, बंधुत्व और मुक्ति के तीन नारों ने सामाजिक चेतना के स्तर पर जो परिवर्तन किया था, वह यूरोप के साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुआ। हमारे यहां बालगंगाधर तिलक ने 'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का जो नारा दिया उसने भारतीय चेतना को मुक्ति की आकांक्षा से भर दिया और इसका प्रतिफलन साहित्य में भी हुआ। महादेवी में मुक्ति की आकांक्षा न केवल ब्रिटिश साम्राज्य की गुलामी से भारतीयों की मुक्ति की चेतना से प्रभावित थी, बल्कि उसमें सामंती मूल्यों के तले गुलामी झेलती नारी की मुक्ति की आकांक्षा भी शामिल थी और मेटाफिज़िकल स्तर पर मृत्यु की गुलामी से मुक्ति की भावना भी देखी जा सकती है जिसे मैं उत्क्रांति कहता हूँ यानी काल से ऊपर परे जाने की आकांक्षा। हिंदी के ज़्यादातर आलोचकों ने महादेवी के गीतों में व्यक्त वेदना को या तो वैयक्तिक या लौकिक (यहां तक कि शारीरिक भी) करार दे दिया और कुछ ने उसे आध्यात्मिकता से जोड़ दिया। इस वेदना को भारतीय मुक्ति संग्राम से पैदा हुई मुक्ति कामना से जोड़ कर देखने की कोशिश हिंदी आलोचना में कम ही हुई।

भारत की सामाजिक स्थिति कुछ इस तरह बनी कि हमारे मुक्ति संग्राम की अगुआई नवोदित पूंजीपतिवर्ग के हाथ लग गयी। ऐतिहासिक रूप से दो नवोदित वर्ग यानी पूंजीपतिवर्ग और सर्वहारावर्ग ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भारत की मुक्ति की लड़ाई का नेतृत्व कर सकते थे, पूंजीपतिवर्ग पहले संगठित हो गया और राजनीतिक रूप से उसका प्रसार प्रचार भी समूचे देश में पहले हो गया, इसलिए उसकी अगुआई समाज को स्वीकार्य हो गयी। भारतीय पूंजीपतिवर्ग अपने लिए बाज़ार को विदेशियों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए 'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा दे रहा था, सर्वहारावर्ग बाद में संगठित हो पाया। संगठित होते ही सर्वहारावर्ग ने 'पूर्ण आज़ादी' का नारा दिया। इस सामाजिक प्रक्रिया में नारे तो दोनों वर्गों ने अपने अपने स्तर पर दिये, मगर पहलकदमी पूंजीपतिवर्ग ने कर ली क्योंकि विश्वयुद्धों के दौरान भारतीय पूंजीपति काफी विकसित हो गया था जबकि

चीन जैसे देश में सिर्फ दलाल पूंजीपति की हैसियत तक ही विकसित हुआ था, इसलिए वहां मुक्ति संग्राम का नेतृत्व सर्वहारावर्ग के हाथों आया और उसने 1949 में अपने देश को आज़ाद कराया। जिन देशों में पूंजीपतिवर्ग ऐतिहासिक कारणों से ज़्यादा विकसित हो जाता है, वहां सर्वहारावर्ग के नेतृत्व में क्रांति की प्रक्रिया काफी धीमी हो जाती है। इसीलिए विकसित पूंजीवादी यानी साम्राज्यवादी देशों में कम्युनिस्ट पार्टियां बहुत ताक़तवर नहीं बन पातीं। मार्क्स के साथी फ्रेडरिक एंगेल्स ने ब्रिटेन के सर्वहारावर्ग की दशा के बारे में एक किताब लिखी है जो इस सत्य को उजागर करती है और लेनिन ने उसी के आधार पर अपनी सिद्धांत विकसित किया कि सर्वहारा क्रांतियां उन्हीं देशों में संभव होंगी जो पूंजीवाद की सबसे कमज़ोर कड़ी होंगी। भारत पूंजीवाद की सबसे कमज़ोर कड़ी नहीं था, वह इज़ारेदार बन चुका था, इसीलिए यहां आज़ादी की जंग में उसे नेतृत्व हासिल करने में कोई दुश्वारी का सामना नहीं करना पड़ा। मगर भारत में जैसे जैसे पूंजीपतिवर्ग अपने संकटों से उबर कर और विश्वपूंजीवाद के साथ सांठगांठ करके ताक़तवर होता जाता है, वैसे वैसे क्रांति का मार्ग ज़्यादा कठिन होता जाता है और सर्वहारावर्ग की विचारधारा और राजनीति का फैलाव अवरुद्ध होने लगता है। पड़ोसी देश नेपाल में अभी पूंजीपतिवर्ग विकसित नहीं हो पा रहा है, इसीलिए वहां कम्युनिस्ट आंदोलन ज़्यादा तीव्र है। जब पूंजीपतिवर्ग विश्वस्तर पर अपने अंतर्विरोधों के कारण गहरे संकट का शिकार होगा और भारतीय पूंजीपतिवर्ग के सामने भी संकट से उबरने का कोई रास्ता न होगा, तभी यहां क्रांतिकारी परिस्थिति पैदा होगी, अभी तो सभी को इसी व्यवस्था में 'सुनहरे कल' की उम्मीद लगी हुई है। मुक्ति की तड़प भी तभी पैदा होगी और तब फिर रोमांटिक साहित्य, उस वक्त क्रांतिकारी रोमांटिक साहित्य, फिर रचा जायेगा।

महादेवी के वक्त मुक्ति की तड़प उस दौर की गुलामी ने दी थी, इसलिए उस तड़प में सामंतवादी बंधनों से मुक्ति और विदेशी शासन से मुक्ति की आकांक्षा छिपी हुई थी। उस आकांक्षा में उन पूंजीवादी नये मूल्यों का समावेश था जो मानवता को 1789 की फ्रांस की पूंजीवादी क्रांति ने दिये थे। महादेवी के गीतों को इस सामाजिक चेतना के बदलाव की रोशनी में पढ़ें तो नये अर्थ उद्घाटित होते हैं।

इसी आधार पर महादेवी के गीतों की व्याख्या मैंने 1979 में प्रकाशित अपनी पुस्तक, *प्रतिबद्ध समीक्षा : नया चिंतन, नये प्रयोग* में की थी, जो अब *आलोचना यात्रा* शीर्षक से दोबारा स्वराज प्रकाशन से छपी है। पूरा लेख वहां देखें।

प्रत्यालोचन

मुक्तिबोध की 'भूल गलती' : एक संघी कुपाठ

वर्तमान साहित्य पत्रिका के अगस्त 2006 के अंक में किन्हीं डा. विनीता रघुवंशी ने मुक्तिबोध की कविता, 'भूलगलती' के पुनर्पाठ के नाम पर जो विश्लेषण किया उसका तथ्यों, सत्यों और मुक्तिबोध के साहित्यिक और सामाजिक सरोकारों से दूर तक का कोई वास्ता नहीं है। कविता के बहाने उस कुपाठ में उस संघी दुष्प्रचार को अभिव्यक्त किया गया जिसकी काट मुक्तिबोध जीवन भर करते रहे। संघी मानसिकता के लोगों ने मध्य प्रदेश में उनकी पुस्तक, *भारत : इतिहास और संस्कृति* पर पाबंदी लगा दी थी। याद रहे यह पाबंदी 19 सितंबर 1962 को लगी थी जब भारत में एक संविधान लागू था जिसमें अभिव्यक्ति की आज़ादी हर नागरिक को मिली हुई थी। किताब पर पाबंदी लगाने के वे ही धिसे पिटे तर्क दिये गये थे कि इससे हिंदुओं और जैनियों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुंचती है और समाज में क़ानून और व्यवस्था का संकट पैदा हो सकता है। उस किताब में से संघी मानसिकता के लोगों ने वे पैरे उठा लिये थे जो 'शुद्ध आर्य रक्त' के झूठ का पर्दाफ़ाश करते थे। मुक्तिबोध ने वैज्ञानिक चेतना के आधार पर यह लिखा था कि भारत में विभिन्न प्रजातियों के टकरावों और मिश्रण से 'वर्णसंकर जातियों का उद्भव हुआ', इन जातियों को 'ब्राह्मण' कहा गया और इनमें अनेक दार्शनिक और बुद्धिजीवी हुए जिनमें पार्श्वनाथ आदि का उल्लेख किया। हास्य के लहजे में राम और कृष्ण के काले होने को भी इसी प्रजातीय घालमेल से मुक्तिबोध ने जोड़ दिया। वर्णसंकर जातियों की उपस्थिति को तो गोस्वामी तुलसीदास ने भी *रामचरित मानस* में स्वीकार किया था (भले ही कलियुग में पतन के रूप में किया हो) तो फिर उन्हीं कारणों से उनकी कृति पर भी पाबंदी की मांग क्यों नहीं? संघी मानसिकता की मूल पहचान है : भारत के संविधान और इसके जनतंत्र को स्वीकार न करना और यदि करना ही है तो सिर्फ़ सत्ता हथियाने के लिए जैसे कि जर्मनी में हिटलर ने किया था और जिसे अपने आदर्श के रूप में संघियों के गुरु गोलवलकर ने स्वीकार किया था। दुर्भाग्य से इस चेतना से हिंदी के भी कुछ तत्व अपना लेखन करते रहते हैं। डा. विनीता रघुवंशी की चेतना पर भी उसी जनतंत्रविरोधी फ़ासीवादी विचारधारा का भयंकर असर है जिसकी अभिव्यक्ति उनके उक्त लेख में हुई। यहां यह स्पष्ट कर दूं कि मैं इस महिला लेखक को व्यक्तिगत रूप से न तो जानता हूं और न कभी मिला हूं। इसलिए प्रतिक्रिया सिर्फ़ उनके लेख में व्यक्त विचारों को ले कर है, उनके व्यक्तित्व या

पारिवारिक जीवन पर कोई लांछन नहीं है और न मेरा उनसे कोई रागद्वेष या पूर्वग्रह संभव है। लेकिन जनतंत्र पर वैचारिक रूप में हमला हो या राजनीतिक रूप में, यह हमारा सामाजिक दायित्व है कि हम उसका प्रतिरोध करें, यह हमने मुक्तिबोध से ही सीखा है। अविवेक, तर्कहीनता और सरासर झूठ किसी की ओर से आये, उसका निराकरण ज़रूरी लगता है। भारत की जनता ने और उससे जुड़े रचनाकारों ने भी इसके लिए इंदिरा गांधी तक को नहीं बख़्शा था (एक महिला के रूप में वे आदर की पात्र थीं, जनतंत्रविरोधी शक्ति के रूप में वे आलोच्य थीं)।

खैर, उक्त लेखक ने सबसे पहले अपनी संघी मानसिकता का इज़हार इस वाक्य में किया कि 'पश्चिमी ढंग के विकास की अवधारणा ने सामाजिक जीवनशैली और बुनियादी आधारों को आघात पहुंचाया है।' इस तरह लेख की पूरी प्रस्तावना में एक तरह से भारत की वैज्ञानिक प्रगति, औद्योगीकरण आदि को कोसा गया है और इसके लिए जवाहरलाल नेहरू की लानत मलानत करते हुए 'भारतीयवादी युगस्रष्टा' गांधी जी की लाइन को तरजीह दी है। इस तरह की भूमिका बनाते बनाते मुक्तिबोध के विचारों को ले कर जो कुछ लिखा, वह सरासर झूठ पर आधारित है, उन्होंने लिखा कि 'मुक्तिबोध के लिए राजनीतिक मतवाद या काव्यांदोलन का पक्षपोषण कविता का प्रयोजन नहीं है।' आज तो उनके दुश्मन भी जानते हैं कि मुक्तिबोध एक मार्क्सवादी विचारक और चिंतक थे और मार्क्सवाद एक दर्शन भी है और राजनीतिक मतवाद भी, इस मतवाद पर आधारित राजनीतिक पार्टियां विश्व के सभी देशों में हैं, दुनिया के कुछ हिस्सों में वे सत्ता में भी हैं। मुक्तिबोध का पूरा लेखन विश्व की उन तमाम राजनीतिक शक्तियों जो सर्वहारावर्ग और उसकी विचारधारा - मार्क्सवाद व लेनिनवाद- के प्रति समर्पित हैं के पक्ष में खड़ा है और उन तमाम शक्तियों के खिलाफ है जो जनवादविरोधी हैं और साम्राज्यवाद और सामंतवाद की पिट्टू हैं। देश के स्तर पर भी उनका लेखन तमाम शोषणकारी जनवादविरोधी फ़ासिस्ट और सांप्रदायिक ताकतों के खिलाफ है जो भारत की प्रगति में बाधा उत्पन्न करती हैं जिन्हें 'प्रतिक्रियावादी' कहा जाता है। ये शक्तियां 'भारतीयता', 'भारतीयतावाद' या 'राष्ट्रवाद' का जाप करती रहती हैं मगर साम्राज्यवाद तथा बड़े धन्नासेठों और रजवाड़ों का हित साधन करती हैं। यह भी उनके लेखों से स्पष्ट है कि काव्यांदोलन के रूप में 'प्रगतिवाद' का पक्षपोषण उन्होंने किया और उसकी विचारधारा को कला के सर्वोच्च बिंदु पर पहुंचाया। इसलिए विनीता जी की यह मान्यता सही नहीं है कि 'मुक्तिबोध के लिए राजनीतिक मतवाद या काव्यांदोलन का पक्षपोषण कविता का प्रयोजन नहीं है।' सच्चाई तो यह है कि उनका समूचा लेखन मध्यवर्ग से यही कहता है कि 'तय करो किस ओर हो तुम'। या 'पार्टनर, तुम्हारी पालिटिक्स क्या है?' अपनी लंबी भूमिका के बाद विनीता जी ने अपना मंतव्य ज़ाहिर किया कि 'यहां

कविता की व्याख्या करना मेरा प्रयोजन नहीं, सिर्फ कविता में व्यक्त उस राजनीतिक वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए ऐतिहासिक प्रक्रिया के बीच से नेहरू और गांधी जैसे युग निर्माताओं के दृष्टि विपर्यय पर विचार करना अभिप्रेत है।' इस भूमिका के बाद मुक्तिबोध की कविता का कुपाठ शुरू होता है : 'भारतीय जनता द्वारा पं. जवाहरलाल नेहरू को प्रधानमंत्री के रूप में चुनना सबसे बड़ी भूल है।' आगे इस कुपाठ से टिप्पणी की कि 'पश्चिमी विकास की अवधारणाओं से प्रभावित हो कर जिस प्रकार की उन्नति का स्वप्न उन्होंने भारतभूमि पर रचा वह तो आधारहीन और बुनियादी ढंग से ग़लत था ही, साथ ही नेहरू की दूसरी ऐतिहासिक ग़लती भारत-चीन समझौता भी साबित हुआ। पंचशील के सिद्धांत की स्थापना का स्वप्न पं. नेहरू ही नहीं वरन् समस्त जनताजनार्दन के लिए भी एक वहम ही साबित हुआ।' इन तमाम स्थापनाओं के पीछे भारतीय जनतंत्र के प्रति हिकारत की नज़र साफ़ देखी जा सकती है। अपने संघी बयानों को पुष्ट करने के लिए कविता की जो पंक्तियां दी गयी हैं उनका इस विचारसरणी से कोई संबंध नहीं है। लेखक के अनुसार पहली भूल ग़लती नेहरू को प्रधानमंत्री बनाने की हुई। फिर आगे चल कर वे लिखती हैं कि 'भूलग़लती में भारत-चीन युद्ध के परिणाम से उत्पन्न वेदना की अभिव्यक्ति हुई है। चीन का आक्रमण राष्ट्रभिमान पर किया गया आघात था।' इस कुपाठ की यही विशेषता है कि इसमें वह सब देखा गया है जिसका 'फ़साने में कोई जिक्र ही नहीं'। ऐसा मनमाना कुपाठ जिसमें जगह जगह 'राष्ट्रीय भावनाओं', 'राष्ट्रभिमान' और 'राष्ट्र राष्ट्र' की हुंकार लगायी गयी है मुक्तिबोध के विचारों पर ही आघात करता है।

मुक्तिबोध को मार्क्सवादी विचारधारा ने यह सिखाया था कि समाज का विकास उत्पादन के साधनों यानी टेक्नालाजी के विकास से होता आया है , आदिम काल में औजार आदिम थे, दासयुग में उससे बेहतर हुए, फिर सामंतवाद में और अधिक विकसित हुए। पूंजीवाद के आगमन से तमाम तरह का वैज्ञानिक विकास हुआ और आज भी हो रहा है। पूंजीवाद के इस प्रगतिशील रोल को खुद मार्क्स और हर मार्क्सवादी चिंतक की तरह मुक्तिबोध भी जानते थे। इसके लिए फ्रांस की क्रांति पर उनकी जो टिप्पणियां हैं उन्हें देखा जा सकता है। पूंजीवादी दौर में निजी संपत्ति के अधिकार और लाभलोभ पर आधारित व्यवस्था से पैदा हुए दुर्गुणों का और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अंत समाजवाद की स्थापना से संभव होगा, ऐसा उनका विश्वास था। लेकिन मुक्तिबोध यह भी जानते थे कि भारत या चीन जैसे अविकसित देशों में अभी सीधे समाजवाद की मंज़िल का नारा नहीं दिया जा सकता और निजी संपत्ति के अधिकार को ख़त्म करने की वस्तुगत स्थिति भी अभी नहीं है। इसलिए

विकास की मंजिल का निर्धारण अलग अलग देशों में अलग अलग तरीके से होगा और कम्युनिस्ट पार्टियां जहां सत्ता हासिल करेंगी वहां भी मुख्य दिशा सामाजिक आर्थिक विकास और उत्पादन प्रणाली को वैज्ञानिक तरीके से आगे बढ़ाने की रहेगी। उन्होंने लिखा था कि

मार्क्सवाद के अनुसार समाजवाद की बुनियादी बातों में, खेती तथा उद्योगों का समाजीकरण, और राष्ट्र विकास के लिए बहुत आर्थिक आयोजन का कार्यक्रम शामिल है। एक बार इस बुनियादी लक्ष्य को स्वीकार करने के बाद, देशदेश की अपनीअपनी परिस्थितियों तथा विकासावस्थाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थायीअस्थायी अनेक प्रकार की संस्थाएं और कार्यक्रम चलाये जा सकते हैं। यहां तक कि व्यक्तिगत उद्योग तथा व्यक्तिगत खेती तथा निजी संपत्ति तक को प्रश्रय दिया जा सकता है। चीन ने, एक ओर, सामाजिक सत्ता के अंतर्गत पूंजीवाद को न केवल प्रश्रय दिया, वरन् उसका इस ढंग से विकास किया कि जिससे वह सामाजिक सत्ता के बल को बढ़ा सके और उसकी उत्पादित वस्तुएं वही हों जिनकी आवश्यकता समाज को है।

(मुक्तिबोध रचनावली-6, द्वि.सं.पृ.135)

उनके तमाम लेख इस बात के गवाह हैं कि वे भारत के औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के खिलाफ नहीं थे, जैसा कि विनीता जी ने सिद्ध करने की कोशिश की। मुक्तिबोध ने जवाहरलाल नेहरू की भूमिका की कई जगह पूरी तरह सराहना ही की है, नेहरू ही नहीं, हर स्वतंत्रता सेनानी की, यहां तक कि संघियों के पितामह वीर सावरकर के शुरू के दिनों की भी सराहना की, आलोचनात्मक दृष्टि के बावजूद मुक्तिबोध ने किसी भी स्वतंत्रता सेनानी की आज़ादी के बाद के दिनों में भी निंदा या छीछालेदर नहीं की जैसी कि बहुत से तत्वों ने की, निंदा ही नहीं, गांधी जी का तो हिंदू सांप्रदायिक तत्वों ने क़त्ल ही करवा दिया। कोई मार्क्सवादी या जनतंत्र में विश्वास रखने वाला जनता को कभी भूल ग़लती करने वाला नहीं मानता, मुक्तिबोध ने जगह जगह जनता को सम्मान के साथ चित्रित किया है, भूल ग़लती करने वाली अपढ़ या जाहिल शक्ति नहीं। हर ज्ञानवान कवि ने उसे निराला की तरह शक्ति माना है, समाज का बदलाव करने वालों को उसकी पूजा करनी होगी। 'अंधेरे में' कविता में भी निराला की तरह उन्होंने कहा कि

मिट्टी के लोंदे में किरगीले कण कण

गुण हैं

जनता के गुणों से ही संभव

भावी का उद्भव

जनवादविरोधी मानसिकता ही जनता को दोषी बताती रहती है। किसी भी जगह यदि

कोई उनकी पसंद का नेता हार जायेगा तो वे जनता को भूलगलती करने वाला बतायेंगे। ब्रेख्त ने मज़ाक में ऐसे लोगों से यही कहा कि 'दूसरी जनता चुन लो'।

लेखक महोदया ने लिखा कि 'पं. नेहरू भारतीय जनताजनार्दन के अति विश्वास या आंख मूंदकर किये गये भरोसे (विश्वास) की सबसे बड़ी भूल के रूप में तख्त पर आसीन हुए थे। पश्चिमी विकास की अवधारणाओं से प्रभावित हो कर जिस प्रकार की उन्नति का स्वप्न उन्होंने भारत भूमि पर रचा वह तो आधारहीन और बुनियादी ढंग से ग़लत था ही, साथ ही नेहरू की दूसरी ऐतिहासिक ग़लती भारत-चीन समझौता भी साबित हुआ।' इस तरह वे पंचशील सिद्धांत को भी भूल बताती हैं। इस व्याख्या में वे यह भूल जाती हैं कि भारत एक गणतंत्र बन चुका था, उसमें फ़ैसले गणतांत्रिक प्रक्रिया से होते थे, वे किसी व्यक्ति को पसंद हों या न हों, लेकिन उनको 'तख्त पर आसीन' किसी एक नेता की कारगुज़ारी नहीं माना जा सकता। ये फ़ैसले पूरे देश के फ़ैसले थे। लेखक महोदया की भाषा इस गणतंत्र को किसी एक व्यक्ति की जागीर की तरह देख रही है, तभी उनको नेहरू एक बादशाह नज़र आ रहे हैं, गणतंत्र के फ़ैसले उस बादशाह के फ़ैसले लग रहे हैं। मुक्तिबोध इन तमाम फ़ैसलों को सकारात्मक तरीकों से देख रहे थे हालांकि उनको इस गणतंत्र का वर्गचरित्र मालूम था, वे जानते थे कि यह जनतंत्र पूंजीवादीसामंती व्यवस्था का ही एक आधुनिक रूप है, फिर भी देश के विकास और हित में लिये गये ये फ़ैसले सराहनीय थे और मुक्तिबोध ने इसके लिए भारतीय नेतृत्व की सराहना की, क्योंकि उनकी नज़र किसी संघी पीलिया की शिकार नहीं थी। शिक्षकों की एक सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा कि

पंडित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में, देश समाजवादी निर्माण की ओर चल पड़ा है। जो लोग यह सोचते हैं कि हम उस प्रवृत्ति को खत्म कर सकते हैं वे बड़े भारी भ्रम में हैं। देश ही नहीं, संपूर्ण जगत में जनता जाग्रत हो उठी है और अपनी चेतना के स्तर के अनुसार स्वयं अपने मुक्तिमार्ग पर चल पड़ी है।

(मुक्तिबोध रचनावली-6, पृ.201)

इसी तरह कई लेखों और टिप्पणियों में उन्होंने पं. नेहरू की नीतियों की सराहना की क्योंकि उनसे देश में औद्योगिक विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को बल मिल रहा था और पुराने दकियानूसी विचारों और मध्ययुगीन सड़े गले तौर तरीकों को झटका लग रहा था जिन्हें आज भी बहुत से पढ़े लिखे लोग भी 'भारतीयता' या 'भारतीय संस्कृति' या 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' समझने की भूल गलती करते रहते हैं। मुक्तिबोध ने अपनी इतिहास वाली पुस्तक में भी गांधी, तिलक आदि सभी की सकारात्मक भूमिका का कविसुलभ संवेदना से वर्णन किया, सिर्फ सांप्रदायिक तत्वों

को ब्रिटिश हकूमत के औजार के रूप में चित्रित किया, महात्मा गांधी की भूमिका का प्रशंसात्मक वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा कि 'इस बीच अंग्रेज़ सरकार, एक ओर, जनता का भयानक दमन करती, तो दूसरी ओर, संप्रदायवादियों के ज़रिये देश में फूट फैलाती।' उसी पुस्तक में 'भारत की स्वाधीनता का सूर्य' शीर्षक अध्याय में उन्होंने पहले वाक्य से ले कर अंत तक जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व की सराहना की। शुरू का पैरा तो पूरी तरह नेहरू की ही तारीफ़ में लिखा :

प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारतीय जनतंत्र की प्रतिष्ठा हुई। भारत उत्तरोत्तर प्रगति करता गया। आज हमारा देश विश्व में सम्मानित होता है और उसकी आवाज़ को ध्यान से सुना जाता है। इसका मूल कारण पंडित नेहरू का महान व्यक्तित्व और नेतृत्व है। पंडित नेहरू की नीति विश्व में अधिकाधिक सद्भावना तथा मैत्री के प्रसार के लिए है। यह आवश्यक है, भय से विश्व मुक्त हो। शांति के वातावरण में रह कर ही, विश्व और भारत उन्नति कर सकता है। पंडित नेहरू के पास देश का एक स्वप्न है। भारत शक्तिशाली, आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सम्पन्न हो, जनता शिक्षित और सुसंस्कृत बने। (वही, पृ. 572-73)

इस अध्याय में कहीं भी जवाहरलाल नेहरू को उस नज़र से नहीं देखा गया है जैसा कि विनीता जी ने चित्रित किया। उसमें चीन, पाकिस्तान आदि की समस्या का भी उल्लेख है, मगर वह कहीं भूल गलती की तरह नहीं है। मुक्तिबोध ने बिल्कुल वैज्ञानिक तरीके से उन घटनाओं को लिया और आशा जगायी कि ये समस्याएं भी सुलझ जायेंगी, उन्हीं के शब्दों में 'काश्मीर का एक भाग जो पाकिस्तान ने हथिया लिया, और काश्मीर का उत्तरी सीमांत का कुछ हिस्सा जो चीन ने ले लिया - ये समस्याएं अभी बची हुई हैं। धैर्य और शांति, सद्भावना और शक्ति, मैत्री और बल दोनों के प्रयोग से ये समस्याएं भी धीरे धीरे सुलझ जायेंगी।' इन समस्याओं के उल्लेख के तुरत बाद वे फिर भारत की प्रगति का बखान करते हुए कहते हैं कि 'आज भारत विश्व के अन्यतम देशों में है। उसकी आवाज़ सब देशों को सुननी पड़ती है। ... उस सबका श्रेय विश्व के अन्यतम राजनीतिज्ञ पंडित जवाहरलाल नेहरू को है।

(वही, पृ. 574)

मुक्तिबोध के इन विचारों से डा. विनीता रघुवंशी के 'भूल-गलती' के कुपाठ में व्यक्त झूठ के बीच क्या कोई संगति बैठती है? सच्चाई यह है कि मुक्तिबोध की किसी भी कविता का पाठ या पुनर्पाठ पाठक से यह न्यूनतम मांग करता है कि वह मार्क्सवाद की वैज्ञानिक समझ हासिल करे। इस समझ के बगैर हर पाठ झूठ का सहारा लेगा। मुक्तिबोध की कई कविताओं के ऐसे कुपाठ हिंदी में कई लेखकों ने किये हैं मगर यह पाठ भ्रष्टतम है क्योंकि इसके पीछे एक ऐसी विचारधारा से ग्रसित मानसिकता काम कर रही है जिससे भारतीय समाज का सबसे बड़ा नुकसान हो रहा

है, वह है आर एस एस की विचारधारा। इस विचारधारा का आधार सांप्रदायिक नफरत है जिसके अमल के तौर पर संघी तत्व देश ही के अल्पसंख्यकों के प्रति नफरत और सर्वहारावर्ग की विचारधारा मानने वाले कम्युनिस्टों और कम्युनिस्ट शासित देशों और राज्यों के प्रति नफरत और सेक्युलर चिंतकों व राजनीतिक नेताओं के प्रति नफरत का ज़हर समाज में फैलाने में और सांप्रदायिक हिंसा कराने में मशगूल रहते हैं। इनके इन विचारों की गिरफ्त में कुछ मासूम लेखक भी आ जाते हैं, हो सकता है, डा. विनीता रघुवंशी को भी अपने परिवेश से यह चेतना मिली हो जिसकी अभिव्यक्ति उनके लेख में हुई है।

हमारे यहां तमाम मुफ्तखोर साधु महात्मा दिन रात वैज्ञानिक प्रगति और भौतिकवाद को 'पश्चिमी' बता कर कोसते रहते हैं, मगर पश्चिम के हर नये आविष्कार का भरपूर फायदा उठाते हैं, मोबाइल फोन, एयरकंडीशन्ड गाड़ियां, राजमहल जैसे आश्रम और अधुनातम आफिस तंत्र (वेबसाइट, इंटरनेट, ईमेल आदि) सब कुछ उनके पास होता है। पूछा जाना चाहिए कि ये सब आधुनिक साधन कहां से मिलते यदि भारत में औद्योगीकरण नहीं होता और अन्य देशों से ज्ञानविज्ञान और मशीनें आदि नहीं लेते? जो पश्चिमी औद्योगीकरण की इन देनों को नहीं चाहते वे जंगलों में जा कर रह लें, नेहरू या कम्युनिस्टों को कोसने की क्या ज़रूरत जो भारत देश के विकास के लिए औद्योगीकरण को ज़रूरी मानते हैं। मुक्तिबोध यह जानते थे कि जो देश टेक्नालाजी में कमज़ोर होगा, वह पिछड़ जायेगा, उनकी बात सच साबित हुई।

सोवियत संघ का विघटन इसी वजह से हुआ कि वह युद्ध सामग्री में तो अधुनातम रहा मगर समाज की ज़रूरतों के अनुकूल उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में साम्राज्यवादी देशों से पिछड़ गया, हर क्षेत्र में उसे पूंजीवादी देशों से आगे जाना चाहिए था, उत्पादन के साधनों को विकसित करना ही तो क्रांति का लक्ष्य होता है। किसी भी देश की जनता उन ताकतों को धकेल देती है जो उत्पादन की नयी प्रणालियों को विकसित होने में बाधा डालते हैं। नेपाल की जनता आज सामंती व्यवस्था को इसीलिए ध्वस्त करना चाहती है क्योंकि वहां उत्पादन की नयी टेक्नालाजी के विकास में सामंती व्यवस्था बाधा बन रही है। वहां पूंजीवाद का विकास वस्तुगत ज़रूरत है, और वह होगा ही। वहां के माओवादियों को भी यह समझना होगा कि वहां सीधे समाजवाद की छलांग नहीं लगायी जा सकती। आखिर नयी उत्पादन प्रणाली यानी टेक्नालाजी के नये विकास के लिए पूंजी कहां से आयेगी, ज़ाहिर है वहां पूंजीवाद के विकास के दरवाज़े खोलने होंगे। इसलिए वहां उसी के अनुरूप राजनीतिक ढांचा भी बनेगा। मुक्तिबोध की समझ इस मामले में कितनी वैज्ञानिक

थी, कि जैसे वे भविष्य देख रहे हों जब उन्होंने यह कहा कि ज़रूरत के हिसाब से समाजवादी देशों में भी 'व्यक्तिगत उद्योग तथा व्यक्तिगत खेती तथा निजी संपत्ति तक को प्रश्रय दिया जा सकता है।' चीन में और प. बंगाल में मार्क्सवादी पार्टियों ने इस दिशा में उसी तरह के कदम उठाये जिनका उल्लेख पचास के दशक में मुक्तिबोध ने अपने लेख में किया था। चीन का उल्लेख तो उन्होंने खुद ही किया था जैसा कि ऊपर दिये गये उद्धरण में है।

तब 'भूल गलती' कविता का सही पाठ क्या हो सकता है? मैंने अपनी पुस्तक, *मुक्तिबोध के प्रतीक और बिंब* (वाणी प्रकाशन) में जो पहले 1976 में एक अन्य प्रकाशक ने छपी थी उनकी कविताओं की व्याख्या उनके लेखों और उनकी विश्वदृष्टि के आधार पर की थी। मार्क्सवाद बताता है कि पूंजीवादी समाज में मध्यवर्ग एक मिथ्या चेतना का शिकार होता है कि वह तो शोषित नहीं है, इसलिए वह सर्वहारा का साथ क्यों दे, वह पूंजीपति बनने के सपने देखता है, उसकी मूल्यचेतना आत्मसात कर लेता है। लेकिन सच्चाई यह है कि वह शोषितवर्ग का ही एक हिस्सा होता है। मुक्तिबोध का सारा लेखन भारत के मध्यवर्ग को संबोधित है और उससे कहा जा रहा है कि भारत के अगले विकास के लिए तुम्हें अपनी मिथ्या चेतना की जकड़बंदी से मुक्त होना चाहिए, और उस सर्वहारावर्ग का साथ देना चाहिए जो भारत को आगे के विकास की ओर ले जायेगा और तुम्हें भी शोषण पाप के परंपराक्रम से मुक्त करेगा। इस नज़रिये से 'चंबल की घाटी में' कविता को देखा जा सकता है जिसमें एकाधिकारी पूंजीवाद को बड़ी चट्टान के बिंब से और मध्यवर्ग को उसके नीचे दबी कराहती छोटी चट्टान के रूप में चित्रित किया गया है। छोटी चट्टान मुक्त होना चाहती है और नये पवन के झोंके से निवेदन करती है कि उसे मुक्त करा दो, तब उस मध्यवर्गीय चट्टान से वैज्ञानिक विचारधारा का पवन कहता है कि 'छाती पर तुम्हारे.../ अकड़कर ठाठ से/ बैठी जो डाकू की चट्टानी मूरत / तुम्हारी ही फैल मुटाई हुई सूरत ' यानी पेटी बूर्जुआ से ही तो पूंजीवाद विकसित हो कर मोनोपोली बूर्जुआ की शक्ति अख्तिरियार कर गया है और अब वह सबका शोषण कर रहा है। इसलिए यदि मध्यवर्ग अपनी मुक्ति चाहता है तो उसे अपना वर्गापसरण करना होगा, नीचे लुढ़कना होगा। बड़े पूंजीपतियों व ज़मींदारों की व्यवस्था का समर्थक होने के बजाय उसे सर्वहारा के साथ मिलना होगा। पवन आगे कहता है कि मध्यवर्ग की मिथ्या चेतना के कारण ही एकाधिकारी पूंजीवाद टिका हुआ है, 'इसीलिए जब तक उसकी स्थिति है / मुक्ति न तुमको।' फिर पवन मध्यवर्ग को सलाह देता है कि 'मेरी सलाह है/ लुढ़को ...'

आलोच्य कविता में भी मध्यवर्ग की मिथ्या चेतना ही 'भूल गलती' के बिंब से चित्रित की गयी है। जैसे अन्य कविताओं में मध्यवर्ग के अज्ञान या मिथ्या चेतना

को विभिन्न बिंबो (जैसे ओरांगउटांग आदि) से चित्रित किया गया है उसी तरह इस कविता में मध्यवर्ग की भूल ग़लती को। मध्यवर्ग की चेतना पर इस भूल ग़लती की जकड़ भयंकर है। उसकी चेतना को झकझोरा गया है कि उसी के भीतर उसका ईमान कैद है जिसे सर्वहारा के बिंब से चित्रित किया गया है जो पूंजीवाद-सामंतवाद के दमन का शिकार है। मध्यवर्ग की मिथ्या चेतना भी पूंजीवादी-सामंती विचारधारा का ही एक रूप है और जो सर्वहारा की मुक्ति के पक्ष में न जा कर अंततः सत्ताधारी शोषकवर्गों के पक्ष में ही जाती है। भारत में अगर मध्यवर्ग क्रांतिकारी सर्वहारा शक्तियों का साथ नहीं देगा तो हमारे देश के विकास की अगली मंजिल हासिल ही नहीं होगी, शोषण के परंपराक्रम से छुटकारा संभव ही नहीं। 'अंधेरे में कविता में भी वही सर्वहारा बार बार आता है और धीरे धीरे मध्यवर्गीय वाचक की मिथ्या चेतना के अंधेरे को दूर करता है, यही संदेश 'भूल ग़लती' कविता में मध्यवर्ग को दिया गया कि तुम्हारे दिल के तख़्त पर जिरह बख़्तर पहने बैठी हुई मिथ्या चेतना को वही सर्वहारावर्ग दूर करेगा। यह मिथ्या चेतना पूंजीवादी विचारधारा है जिसके पक्ष में इस समाज की अधिरचना के विभिन्न अंग कार्यपालिका, न्यायपालिका, शासनतंत्र और शिक्षा और साहित्य आदि भी हैं। यहां मुक्तिबोध मार्क्सवाद की एक मान्यता को काव्य का रूप दे रहे हैं कि किसी समाज में जिन वर्गों (व्यक्ति या दल नहीं) के हाथ में सत्ता होती है, वहां उन्हीं की विचारधारा का भी वर्चस्व होता है। निराला ने भी अपने समय में अपने अनुभव और ज्ञान से यह समझा था कि किस तरह 'राजे ने अपनी रखवाली की।' बुनियाद और सुपरस्ट्रक्चर के इस रिश्ते को 'अंधेरे में' कविता में प्रोसेशन के चित्रण में भी मुक्तिबोध ने दिया है।

इस तरह मुक्तिबोध हमें भारतीय मध्यवर्ग के यथार्थ को, उसकी मनोदशा और उसकी मिथ्याचेतना का अहसास कराते हैं और ऐतिहासिक दायित्वबोध की ओर इशारा करते हैं कि क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन में उसकी भूमिका होगी, मध्यवर्ग के भीतर भी यह परिवर्तन होगा, मगर होगा तभी जब सर्वहारावर्ग संगठित हो कर 'लश्कर मुहैया कर' अपने रक्तप्लावित स्वर से प्रकट हो कर उसके सामने आयेगा। जब वर्गीय संतुलन सर्वहारावर्ग के पक्ष में होगा, परिवर्तन तभी संभव होगा। मुक्तिबोध इस ऐतिहासिक वैज्ञानिक सत्य को ही अपनी कविताओं में अलग अलग तरीके से संवेदनात्मक उद्देश्य बनाते हैं। 'भूल ग़लती' को भी इसी नज़रिये से देखा जाना चाहिए। इस तरह का पाठ उनकी पूरी रचनाशीलता और संवेदना की संगति में बैठेगा, अन्यथा उसमें असंगतियां आयेंगी ही, जैसा कि डा. विनीता रघुवंशी के कुपाठ में हुआ है।

रचनाकाल : अगस्त 2006

फैज़ : निर्वासन के दर्द का एहसास

मशहूर उत्तरउपनिवेशवादी चिंतक एडवर्ड सईद ने कई अन्य पाश्चात्य चिंतकों की तरह निर्वासन के शिकार या विस्थापित लेखकों और अपने मुल्क से दूर कर दिये गये नागरिक समूहों के बारे में विस्तार से लिखा है। अपने इसी सैद्धांतिक चिंतन के बीच उन्होंने महमूद दरवेश और फैज़ अहमद फैज़ का भी जिक्र किया है। वे फैज़ से बैरूत में उन दिनों मिले थे जब पाकिस्तान में ज़ियाउल हक़ की फौजी तानाशाही फैज़ जैसे जम्हूरियतपसंद अदीबों और दानिशवरों पर किसी भी तरह का कहर बरपा कर सकती थी। फैज़ से अपनी मुलाकात का जिक्र करते हुए एडवर्ड सईद ने अपने एक लेख, 'निर्वासन पर कुछ चिंतन' में लिखा :

कई बरस पहले मैंने अपने ज़माने के उर्दू के अज़ीमतर शायर फैज़ अहमद फैज़ के साथ कुछ वक़्त बिताया था। वे अपने वतन पाकिस्तान में ज़िया के फौजी शासन के चलते निर्वासित हो कर बैरूत आ गये थे जहां उनका एक तरह से स्वागत हुआ। फ़िलिस्तीनी उनके स्वाभाविक तौर से ज़िगरी दोस्त थे। मैंने महसूस किया कि उन में आपस में बड़ी गहरी आत्मीयता थी जब कि उनकी न तो ज़बान या शैरी रवायत या ज़िंदगी की तारीख़ ही उनसे मिलती जुलती थी। सिर्फ़ एक बार मैंने फैज़ को अपने निर्वासन के दर्द से उबरते हुए देखा था जब उनके एक पाकिस्तानी दोस्त, इक़बाल अहमद बैरूत आये थे जो खुद भी निर्वासित थे। हम तीनों एक गंदे से रेस्त्रां में देर रात तक जमे रहे, फैज़ अपनी नज़्में सुनाते रहे। कुछ देर बाद इक़बाल और उन्होंने हमारे लिए नज़्मों का तर्जुमा करना बंद कर दिया। जैसे रात गुज़रती गयी, इससे कोई दुश्वारी पेश नहीं हुई। जो मैं देख रहा था, उसके लिए किसी तर्जुमे की दरकार नहीं थी। यह नज़ारा एक तरह से प्रतिरोध के स्वर से भरी घरवापसी जैसा था, मानो वे कह रहे हों, 'ऐ ज़िया, ले हम आ गये, लाज़िम है, हम भी देखेंगे।' ज़िया तो असलियत में अपने मुल्क में ही था, वह उनके प्रतिरोध की आवाज़ नहीं सुन रहा था।

एडवर्ड सईद ने फैज़ के साथ अपना वक़्त गुज़ारने की इतनी भर दास्तान लिखी लेकिन इतने से ही निर्वासन के उस दर्द का अहसास हमें ज़रूर करा दिया जिसे फैज़ साहब ने अपनी ज़िंदगी के कई बरसों तक या तो जेलों में रह कर झेला था

या फिर दूसरे मुल्कों में रह कर। उनके इस दर्द को उस हकीकत में भी देखा जा सकता था जो फ़ैज़ साहब के नज़्म सुनाने के अंदाज़ में छिपी हुई रहती थी और जिससे सुनने वालों को शिकायत रहती थी। मुझे भी उन्हें सुनने का मौक़ा मिला था। नयी दिल्ली के फ़िक्की आडिओरियम में उनका जलसा था जिसमें उन्होंने नज़्मों और ग़ज़लों सुनायीं, उसी गैरनाटकीय तरीक़े से जिसका ज़िक्र अक्सर लोग करते थे, उमा शर्मा ने उनकी ग़ज़लों पर एक नृत्यनाटिका तैयार की थी जिससे जलसे में एक नया ही रंग आ गया था, फिर भी वह गायकी सुनने को नहीं मिली जो इक़बाल बानो की 'लाज़िम है कि हम भी देखेंगे' की चुनौतीभरी आवाज़ में उन दिनों सुहैल हाशमी के पास के एक कैसेट में सुनी थी और उसकी प्रतिलिपि अपने पास भी मैंने रखी थी। अब तो इसे इंटरनेट पर आसानी से इक़बाल बानो की वीडियो रिकार्डिंग में सुना जा सकता है।

फ़ैज़ की शायरी में 'दर्द' और 'तनहाई' शब्द बार बार आये हैं, लेकिन ये शब्द हमारे अदब के बहुत से आधुनिकतावादियों की तरह ओढ़े हुए 'अकेलेपन' या 'दुख सबको मांजता है' (अज्ञेय) के सूत्रबद्ध 'दुख' का आख्यान नहीं हैं, ये तो एक अलग तरह की अनुभूति से उपजे शब्द हैं। सज्जाद ज़हीर ने आधुनिकतावादियों के अकेलेपन को फ़ैशन के तौर पर अपनाया हुआ अकेलापन बताया था। उन्होंने लिखा था:

तनहाई की भावनाओं का वर्णन करना हर कवि अपना पैदाइशी हक़ समझता है और आजकल कतिपय कवियों और चिंतकों ने तो इसको बाक़ायदा दर्शन का रूप दे दिया है; और वे अपने तथाकथित एकाकीपन को इतनी अहमियत देते हैं जितना ज़ोर एक ईश्वर को माननेवाले मुसलमान अल्लाह-त'आला के एकाकी और अद्वितीय होने को देते हैं। लेकिन आप ज़रा फ़ैज़ की इस दर्दनाक लेकिन हसीन तनहाई की कल्पना कीजिए जिसमें दस्ते-सबा की नर्मी और टंडक प्रेयसी के हाथों की याद दिलाती है, और चांद की वक्रता को देखकर प्रिया की अनुपस्थिति में, उसके गले में बाहें डाल देने को जी चाहता है।

हिंदी में अज्ञेय ने इसी तरह के 'अकेलापन' का दर्शन ओढ़ा हुआ था। उन्होंने अपनी एक कविता, 'सवेरे उठा तो' में लिखा था :

उस अनदेखे अरूप ने कहा : हां,
क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं
यह अकेलापन, यह अकुलाहट, यह असमंजस, अचकचाहट,

आर्त, अननुभव, यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय विरह व्यथा,
यह अंधकार में जाग कर सहसा पहचानना कि
जो मेरा है वही ममेतर है

यहां जिस 'अनदेखे अरूप' का जिक्र है उसे 'अल्लाह-त'आला' ही समझना चाहिए जो हिंदी के आधुनिकतावादियों को वैराग्य का पाठ पढ़ा रहा था और 'जो मेरा है' वही 'ममेतर' लग रहा था, शुद्ध अकेलापन भोगता हुआ काव्यनायक पचास के दशक में हिंदी की जदीदियतपसंद कविता में खूब फल फूल रहा था, वह 'नदी का द्वीप' था या 'एक बूंद' या 'कनु'। इस सबके विपरीत फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ का काव्यनायक माडर्निज़्म का लबादा ओढ़े शौकिया तनहाई का शिकार नहीं था, उसे तो कैदे तनहाई में या मुल्क बदर हो कर निर्वासन का दर्द झेलना पड़ रहा था।

यह तो एक आम कहावत है कि 'जाके पैर न फटी बिवाई/सो का जाने पीर पराई'। एडवर्ड सर्ईद ने निर्वासन के दर्द का फलसफ़ाई जायज़ा लेते हुए इस सत्य को रेखांकित किया है। उन्होंने लिखा है कि 'बीसवीं सदी के पैमाने पर, निर्वासन की घटनाओं को न तो सौंदर्यशास्त्रीय तरीके से और न ही मानवतावादी नज़रिये से ठीक से समझा जा सकता है, निर्वासन के बारे में रचा गया साहित्य तो सिर्फ़ उस दर्द और नियति को एक वस्तु में बदल भर देता है जिस दर्द से हो कर ज़्यादातर लोग खुद नहीं गुज़रे हैं।' यह सच्चाई है कि निर्वासन खुद जिसने झेला है, वह जिस गहरी अनुभूति के साथ उसका बयान कर सकता है, वह दूसरा कोई नहीं कर सकता। फ़ैज़ पहले अपने ही वतन में ही 1951-1955 और फिर 1958 में जेल में बंद कर दिये गये, उसके बाद जब जब जम्हूरियत को रौंद कर फ़ौजी हकूमत कायम हुई, फ़ैज़ खुद ही बर्तोल्ल ब्रेख्त की तरह मुल्कबदर हो गये, ऐहतियातन उनके लिए यह ज़रूरी था। एडवर्ड सर्ईद ने अपनी जिस मुलाक़ात का जिक्र किया है, उस वक़्त वे बैरूत में आत्मनिर्वासित थे। उनके आत्मनिर्वासन के दर्द को उनकी अनेक रचनाओं में देखा जा सकता है। जेल के अंदर का निर्वासन किस तरह नज़्म की शक़ल अख़्तियार करता रहा, उस पर तो उनके हमदम, उनके दोस्त सज्जाद ज़हीर और मेजर मुहम्मद इस्हाक़ ने अपने लेखों में विस्तार से रोशनी डाली है। दस्ते सबा और ज़िंदानामा की नज़्में तो हैं ही उसी दौर की, लेकिन तनहाई और निर्वासन का दर्द उनकी बाद की रचनाओं में एक थीम की तरह उभरता है।

कहीं तो कारवाने दर्द की मंज़िल ठहर जाये
किनारे आ लगे उम्र-ए-रवां या दिल ठहर जाये

अमां कैसी कि मौज-ए-खूं अभी सर से नहीं गुज़री
 गुज़र जाये तो शायद बाजू-ए-क़ातिल ठहर जाये
 (नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 465)

1971 में लिखी यह ग़ज़ल जिंदगी भर सहे निर्वासन के दर्द का अहसास कराती है, 'बाजू-ए-क़ातिल' का साया उन पर मंडराता रहा, पाकिस्तान में जम्हूरियत फ़ौजी बूटों के तले रौंदी जाती रही, और कोई न कोई तानाशाही निज़ाम कायम होता रहा, और इसीलिए यह समाजी दर्द उनकी आखिरी शायरी तक रचना की शकल में हमारे सामने आता रहा।

फ़ैज़ की शायरी के वाचक मुक्ति का इंतज़ार करते हैं, यह मुक्तिकामना उनकी अपनी किसी जेल से रिहाई या अपने वतन से दूर रहने के दर्द से निजी मुक्ति से जुड़ी हुई नहीं है, इसीलिए वह निजी या लिरिकल लगती हुई भी एक नाटकीय या वस्तुपरक आख्यान बन जाती है, क्योंकि उसमें तो उस सामाजिक व्यवस्था से मुक्ति का इंतज़ार है जो अभी हासिल नहीं हुई, मुक्ति की उस सुबह का इंतज़ार है जिसमें आदमी द्वारा आदमी का शोषण नहीं होगा, जिसमें कोई सरमायादारों का ज़रखरीद गुलाम तानाशाह अवाम के जम्हूरी हक़ नहीं छीन रहा होगा या सामराजी मुल्क तीसरी दुनिया के मुल्कों पर अपना कब्ज़ा बनाये रखने में कामयाब न हो पायेंगे और सामराजी ताक़तें पूरी दुनिया को किसी आलमी जंग में न झोंक पायेंगी। समाजवाद का सपना देखने वाले तमाम राजनीतिक और विचारधारात्मक संगठनों और रचनाकारों, कलाकारों को उसी मुक्ति की सुबह का इंतज़ार आज भी है। भारत जब आज़ाद हुआ तो उस आज़ादी की सुबह ने कवियों और कलाकारों के जागरूक हिस्सों को उस तरह की खुशी नहीं दी जो आज़ादी उनके सपनों में बसी मुक्ति हासिल होने पर होती। उन्हें इसका गहरा अहसास था कि राजनीतिक सत्ता विदेशी शोषकों के हाथ से देशी शोषक तबकों के हाथ आयी है, इसलिए नयी व्यवस्था में भी शोषण की तेग़ ग़रीबों पर चलती रहेगी। हिंदी-उर्दू के कई शायरों ने अपने इस अहसास को वाणी दी, फ़ैज़ ने भी बेख़ौफ़ तरीक़े से अपनी मशहूर नज़्म, 'सुबहे आज़ादी' में इस अहसास को कहा : 'ये दाग़ दाग़ उजाला, ये शबगज़ीदा सहर / वो इंतज़ार था जिसका, ये वो सहर तो नहीं।'

पाकिस्तान के शासकवर्गों ने बार बार वहां के अवाम को सैनिक तानाशाहों के माध्यम से जुल्म और शोषण का शिकार बनाया तो वहां के वामपंथी और जम्हूरियतपसंद शायरों और अदीबों ने बहुत तकलीफ़ें झेलीं, फ़ैज़ और हबीब जालिब जैसे शायरों को जेलों में बंद रहना पड़ा, फ़हमीदा रियाज़ को भागकर भारत में शरण लेनी पड़ी। इन हालात पर नज़र डालने पर यह समझ में आता है कि फ़ैज़ की कविता में 'दर्द',

‘दुख’, ‘ग़म’, ‘तनहाई’ जैसे बार बार आने वाले शब्दों का क्या सामाजिक संदर्भ है। इसी तरह के एक संदर्भ का हवाला एडवर्ड सर्ईद ने थ्योडोर एडोर्नो की निर्वासन के दौरान लिखी उनकी आत्मकथा, *क्षत-विक्षत ज़िंदगी पर विचार, (Reflections from a Mutilated Life)* के बारे में दिये हैं। ‘निर्वासन में रह रहा बुद्धिजीवी खुद को एक वस्तु में तब्दील होने से इनकार करता है।’ फ़ैज़ के साथ भी यही होता है कि वे खुद को एक कमोडिटी में तब्दील नहीं होने देते, तानाशाहों को उनसे यही तो शिकायत थी, ऐसी ही स्थिति तो हमारे यहां एमर्जेंसी के दौर में थी जब बहुत से बुद्धिजीवियों ने खुद को वस्तु या मिट्टी का माधो बनने से इनकार कर दिया था और निर्वासन की यातना झेली थी।

फ़ैज़ ने अपने निर्वासन का दर्द जिस तरह सहा, वह भी एक मिसाल ही है, क्योंकि उसे उन्होंने दुनियाभर के दुखी, ग़रीब, मज़लूमों के ग़म के साथ घुलामिला दिया, ऐसा ही मशविरा उन्हें रशीद जहां से उन दिनों ही मिला था जब इस उपमहाद्वीप में प्रगतिशील लेखक संघ की इकाइयां जगह जगह बन रही थीं जिसका हवाला फ़ैज़ ने अपनी आपबीती में और बी बी सी को दिये अपने एक इंटरव्यू में भी दिया था कि अपने ग़मों के बजाय दुनिया भर के ग़रीबों और वंचितों के ग़मों को महसूस करो और उन दुखों को वाणी दो। फ़ैज़ ने फिर वही किया। अपनी महबूबा से भी कह डाला कि पहले जैसी मुहब्बत की मांग पूरी करना मुमकिन नहीं, यहां फ़ैज़ ने अपने ‘स्व’ के विस्तार की बात कही है जिसे मुक्ति- बोध ने अपनी कई कविताओं में बयान किया था। अपने निज के दर्द से ऊपर उठने की प्रक्रिया आसान नहीं होती, मगर महान कविता के लिए वह ज़रूरी तो होती ही है। यह प्रक्रिया *नक्शे फ़रियादी* के दूसरे हिस्से से ही शुरू हो गयी थी, और फिर बाद के संग्रहों में तो दर्द के इस समाजीकरण को बहुत ही कलात्मक तरीके से फ़ैज़ ने अपनी शायरी का मौजू बनाया। ग़म की इस बदलती रंगत ने उनकी शायरी में एक नया ही रंग ला दिया। फ़ैज़ ने दुनिया के शोषितों को वे गीत और तराने दिये जो उनकी ज़बान पर नारे बन कर सभी जगह गूँजने लगे। उन्हें अपनी संगठित शक्ति का अहसास कराया, ज़ालिमों के अंत की आशा दी, अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी बनाये रखने का हौसला दिया, उन्होंने ही हमें सिखाया, ‘बोल कि लव आज़ाद हैं तेरे’। उन्होंने अपने निर्वासन में अभिव्यक्ति की जो शैली ईजाद की वही सारी जनवादी कविता की शैली बन गयी, ‘हमने जो तर्ज़ें फुगां की है क़फ़स में ईजाद / फ़ैज़ गुलशन में वही तर्ज़ें बयां ठहरी है’।

निर्वासन के दर्द को सहने और उसे रचनात्मकता का रूप देने की प्रक्रिया ने फ़ैज़ में क्रांतिकारी आशावाद ज़िंदा रखा। अगर निर्वासन से टूट जाते तो सर्वहारावर्ग

के दुश्मनों की ही जीत होती। मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर में संकलित 'शायर लोग' नज़्म बताती है कि शायर को अपने दर्द को विस्तार देने के लिए क्या करना होता है :

जिन पे आंसू बहाने को कोई न था
 अपनी आंख उनके गम में बरसती रही
 सबसे ओझल हुए हुक्मे हाकिम पे हम
 कैदखाने सहे ताज़याने सहे
 लोग सुनते रहे साज़े-दिल की सदा
 अपने नज़्में सलाखों से छनते रहे

(नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 628)

फ़ैज़ की कविताओं में निर्वासन या कैद के जो बिंब और प्रतीक आये हैं, या जो नज़्में सलाखों से छनते रहे, उन्हें हम खासतौर से उनके उन संकलनों में पूरी कलात्मकता के साथ देख सकते हैं जो *दस्ते सबा*, *ज़िंदांनामा*, *दस्ते तहे संग*, *सर-ए-वादी-ए-सीना* से शुरू हो कर *शाम-ए-शहरे यारां*, *मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर*, *गुबारे अय्याम* आदि शीर्षकों से पाठकों के सामने आये। रचनात्मकता की एक लंबी यात्रा उन्होंने तय की, पूरी दुनिया के साहित्य और विचारों की जानकारी उन्हें मिली हुई थी। सारी दुनिया में उन दिनों चल रहे मुक्ति आंदोलनों में जूझ रहे अवाम के साथ उन्होंने खुद को जोड़ा, उन से प्रेरणा ली और अपना हौसला बुलंद रखा। निर्वासन के दर्द का अहसास *मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर* जो यासर अरफ़ात को समर्पित संकलन था की पहली नज़्म में एक कलात्मक श्रेष्ठता के साथ देखा जा सकता है:

मेरे दिल मेरे मुसाफ़िर
 हुआ फिर से हुक्म सादिर
 कि वतन बदर हों हम तुम
 दें गली गली सदाएं
 करें रुख नगर नगर का
 कि सुराग़ कोई पायें
 किसी यार-ए-नामावर का
 हर इक अजनबी से पूछें
 जो पता था अपने घर का

(नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 613)

इसी संकलन की 'तीन आवाज़ें' कविता में तीन नज़्में आवाज़ की शक्ल में हैं, एक आवाज़, 'ज़ालिम' की है जिसमें व्यंग्य और विडंबना का अद्भुत प्रयोग है, दूसरी आवाज़ 'मज़लूम' की है जिसमें दुनिया भर के मज़लूमों का दर्द छलकता है, तीसरी

आवाज़ आसमान से आने वाली आवाज़, 'निदा-ए-ग़ैब' है जो धार्मिक रूपक की तरह दिखने पर भी एक क्रांतिकारी की आवाज़ बन कर दुनिया भर के शोषितों और वंचितों को हौसला देती है : 'उठेगा जब जम्म-ए-सरफ़रोशां/पड़ेंगे दार-ओ-रसन के लाले/कोई न होगा कि जो बचा ले/जज़ा सज़ा सब यहीं पे होगी/यहीं अजाब-ओ-सवाब होगा/यहीं से उट्टेगा शोर-ए-महशर/यहीं पे रोज़-ए-हिसाब होगा' (नुस्खा-हाए-वफ़ा, पृ.639, समरकंद:1979)।

बैरूत प्रवास के दौरान उन्होंने फ़िलिस्तीनी मुक्ति-संग्राम के साथ अपनी एकजुटता कायम की और उसे अपनी शायरी का मौजू भी बनाया। बैरूत में 1980 में लिखी 'फ़िलिस्तीनी शुहदा जो परदेस में काम आये' और 'फ़िलिस्तीनी बच्चे के लिए लोरी' उनकी दो मशहूर नज़्में हैं जिनमें उनके निर्वासन के दर्द का अहसास पूरी भावभीनी करुणा के साथ उभरता है। मुक्तिबोध की एक पंक्ति याद आती है, 'भोले भाव की करुणा क्रांतिकारी सिद्ध होती है।' फ़ैज़ उक्त दो नज़्मों में से पहली नज़्म में कहते हैं :

दूर परदेस की बे-महर गुज़रगाहों में
अजनबी शहर की बेनामोनिशां राहों में
जिस ज़मीं पर भी खुला मेरे लहू का परचम
लहलहाता है वहां अर्ज़-ए-फ़िलिस्तीं का अलम

(नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 657)

और दूसरी नज़्म जो लोरी की विधा में लिखी गयी है निर्वासन का दर्द झेलते बच्चे को सुलाने के लिए नहीं, उसे मुस्कराते रहने के लिए कहती है, बच्चे के सारे अपने परिवारजन उससे दूर कहीं चले गये हैं, यदि वह रोयेगा तो उसे ज़ालिम और रुलायेंगे और मुस्करायेगा तो उसके अपने लोग भेस बदल कर वापस आयेंगे, यहां शायर ने ईसा मसीह की वापसी या 'रिज़रैक्शन' जैसा रूपक बहुत ही सरल शब्दों में बांधा है:

तू गर रोयेगा तो ये सब
और भी तुझको रुलवायेंगे
तू मुस्कायेगा तो शायद
सारे एक दिन भेस बदल कर
तुझ से खेलने लौट आयेंगे

(नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 660)

मुस्कराते हुए दर्द को झेलना उनकी शायरी की टेकनीक ही नहीं, अवाम के दुश्मनों को चुनौती भी रही, अपने एक गीत में उन्होंने कहा था, 'अपने दर्दों का मुकुट पहन

कर/बेददों के सामने जायें/जब रोना आवे मुस्कार्यें/जब दिल टूटे दीप जलायें।’
(*नुस्खा हाए वफ़ा*, पृ. 676-77)

यह विडंबना ही कही जायेगी कि जिस शायर ने अपने वतन से बेइतिहा मुहब्बत की हो, उसे ग़द्दार कह कर लांछित किया जाये, उसके लिए वतन का मतलब सिर्फ़ नक्शे पर खिंची हुई लकीरें नहीं था, वे सारे अवाम थे जिनसे मिल कर कोई वतन बनता है। अगर उन अवाम के जम्हूरी हकूक छीन लिये जायें, जुल्मोसितम के खिलाफ़ लब खोलने की आज़ादी छीन ली जाये, और साम्राज्यवाद की शह पर तानाशाही थोप दी जाये तो कोई भी सच्चा संवेदनशील कवि और अदीब बेचैन हुए बग़ैर कैसे रह सकता है? फ़ैज़ ने अपने वतन से मुहब्बत का इज़हार अपनी शायरी में बार बार किया है, 1980 में बैरूत में निर्वासन में रहते हुए भी ‘खयाल सू-ए-वतन रवां है/समंदरों की अयाल थामे/हज़ार वहम-ओ-गुमां संभाले/कई तरह के सवाल थामे।’ (*नुस्खा हाए वफ़ा*, पृ. 664) वे फ़िलिस्तीनी शूरवीरों को अपने वतन पर जान न्योछावर करते देख रहे थे और उन से प्रेरणा लेते हुए अपने निर्वासन के दर्द को भूल जाते थे, ‘शोपेन का नगमा बजता है’ नज़्म में वे कहते हैं :

कुछ आज़ादी के मतवाले जां कफ़ पे लिये मैदां में गये
हर सू दुश्मन का नर्गा था, कुछ बच निकले, कुछ खेत रहे
आलम में उनका शोहरा है
शोपेन का नगमा बजता है

(*नुस्ख-हाए-वफ़ा*, पृ. 630)

कुछ आलोचकों ने फ़ैज़ की शायरी को रूपवादी संरचनावादी नज़रिये से देखने की कोशिश करते हुए उनके अर्थों और उनके अंतर्निहित रुझान को विकृत भी किया है। ऐसी ही एक कोशिश जनाब गोपीचंद नारंग की भी मुझे दिखायी पड़ी जिन्होंने फ़ैज़ की एक मशहूर नज़्म, ‘दस्ते तहे संग आमदा’ (जिस पर फ़ैज़ ने अपने एक संकलन का नाम भी रखा) की संरचनावादी व्याख्या करके यह बताया कि यह कैदखाना विचारधारा का भी हो सकता है जिससे मुक्ति की कोशिश शायर कर रहा था, ऐसा अर्थ निकालते हुए उन्होंने प्रगतिशील आंदोलन पर भी लगे हाथ चोट कर दी, और फ़ैज़ को अली सरदार जाफ़री के मुक़ाबले विचारधारा की जकड़बंदी से मुक्त तथा इंडोपर्शियन सौंदर्यशास्त्र का पालन करने वाला शायर बताया और यह भी कहा कि मार्क्सवादी इस सौंदर्यशास्त्र को ‘बूर्जुआ’ कहते हैं। वे मानते हैं कि फ़ैज़ की कविता में ‘मौन’ और ‘अंतराल’ ही उन्हें विचारधारा को अतिक्रमित करने में मदद पहुंचाते हैं। गोपीचंद नारंग को यह नहीं मालूम कि विचारधारा को परोक्ष रखने की सलाह रचनाकारों को सबसे पहले एंगेल्स ने ही दी थी जो मार्क्सवाद के प्रणेता थे।

अपनी काव्य परंपरा ही नहीं, पूरे अतीत की संस्कृति का वाहक सर्वहारावर्ग को ही होना है और यह संदेश लेनिन ने और माओ ने भी प्रगतिशील रचनाकारों और संस्कृतिकर्मियों को अपने अपने समय में दिया था जो आज भी प्रासंगिक है। इसलिए अगर फ़ैज़ अपनी कविताओं के लिए इंडोपश्चिम सौंदर्यशास्त्र से काम ले रहे थे या समूचे विश्व के बेहतरीन अदब और कला की रवायत को आगे बढ़ा रहे थे, तो यह उनकी विचार- धारा का कोई विचलन नहीं था और न किसी मार्क्सवादी ने इस सौंदर्यशास्त्र को 'बूर्जुआ' या 'सामंती' कहा। यह तो नारंग साहब की अपनी ही खामखयाली है, बकौल फ़ैज़, 'वो बात, सारे फ़साने में जिसका ज़िक्र न था / वो बात उन को बहुत नागवार गुज़री है।' फ़ैज़ के *ज़िंदानामा* में कविताओं से पहले सज्जाद ज़हीर की एक छोटी टिप्पणी उस संकलन में शामिल है, जिसमें इस शायर और अपने हमदम, अपने दोस्त और कैद के संगी साथी की कविताओं में परंपरा से लिये गये सौंदर्यबोध की तारीफ़ की है, उन्होंने तो इस बोध को 'बूर्जुआ' या 'सामंती' नहीं कहा जबकि वे तो प्रगतिशील लेखक संघ की बुनियाद रखने वाले अदीब थे। उन्होंने लिखा:

जहां तक उन इक़दार (मूल्कों) का तआलुक है जिनको शायर ने उन में पेश किया है वो तो वही हैं जो उस ज़माने में तमाम तरक्कीपसंद इंसानियत की इक़दार हैं, लेकिन फ़ैज़ ने उन को इतनी खूबी से अपनाया है कि वो न तो हमारी तहज़ीबो तमद्दन की बेहतरीन रवायत से अलग नज़र आती हैं और न शायर की इनफ़रादियत, उसका नर्म, शीरीं और मतरन्नुम अंदाज़-ए-कलाम कहीं भी उनसे जुदा हुआ है।

(*नुस्खा हाए वफ़ा*, पृ. 198)

नारंग जैसे बहुत से आलोचक पश्चिम से उधार ली गयी या चोरी की हुई आलोचना पद्धतियों का इस्तेमाल अक्सर प्रगतिशील जनवादी विचार परंपरा पर हमला बोलने के लिए करते हैं और ज़्यादा मग़ज़पच्ची संरचनावाद पर करते हुए वे पाठकों को यह सीख देते हैं कि 'फ़ैज़ को किस तरह नहीं पढ़ना चाहिए' (उनके लेख का यही शीर्षक है) और कैसे पढ़ना चाहिए इसके लिए उन्होंने उनकी एक नज़्म 'दस्ते तहे संग आमदा' (चट्टान के नीचे दबा हाथ) की संरचनावादी व्याख्या की है। यह बिंब कवि ने ग़ालिब से लिया है। ग़ालिब के वक्त्त उपनिवेशवादी ईस्ट इंडिया कंपनी की चट्टान के नीचे कलाकार का हाथ दबा था, 1857 के उस वक्त्त के वहशी दमन और उत्पीड़न को ग़ालिब ने अपनी आंखों देखा था, फ़ैज़ ने मार्शल लॉ की चट्टान के नीचे दबे हुए तख्तीकी हाथ को देखा था, उन्होंने रचनाकारों की अभिव्यक्ति की आज़ादी पर लगी पाबंदी ही नहीं, दुनिया के कई देशों पर सामराजी दमन के वहशीपन को भी देखा और तमाम वंचितों, वतन बदर किये अवाम और निर्वासन में जी रहे

इंसानों का दर्द भी तलखी से महसूस किया था। लुडमिला वासीलेवा की फ़ैज़र लिखी किताब का रिव्यू करते हुए अदीब ख़ालिद ने इस बात को रेखांकित किया है। उन्होंने लिखा है कि फ़ैज़र साहब ने 1982 के एक वक्तव्य में खुद यह कहा था:

एक मुसन्निफ़ की हैसियत से हालांकि मैं किसी मुल्क का कामकाज नहीं संभालता हूँ और न ही मेरे पास कोई प्रशासनिक ताक़त है, मुझे यह अहसास करने का हक़ ज़रूर है कि मैं अपने भाई बंधुओं का अभिभावक हूँ और मेरे भाई बंधु पूरी दुनिया के अवाम हैं। मेरे तई अमन, आज़ादी, युद्धबंदी, और एटमी होड़ की मुख़ालिफ़त ही प्रासंगिक हैं। इस विशाल भाईचारे में से मेरे और मेरे दिल के सबसे नज़दीक वे अवाम हैं जो अपमानित, निष्कासित और वंचित हैं, जो ग़रीब, भूखे और परेशान हैं। इसी वजह से मेरा लगाव फ़िलिस्तीन, दक्षिण अफ़्रीका, नामीबिया, चिले के अवाम और अपने मुल्क के अवाम और मुझ जैसे लोगों से है।

जिस तरह वे खुद निर्वासन का दर्द झेल रहे थे उसी तरह वतन बदर हुए अनेक फ़िलिस्तीनी अवाम और दुनिया के कई मुल्कों में दमन और उत्पीड़न के शिकार भोले भाले लोग उनके स्वाभाविक तौर पर हमराही थे, उनका दर्द भी वे अपनी शायरी में व्यक्त कर रहे थे, कहीं वह दर्द सीधे सीधे कहा गया है तो कहीं वह प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से आया है। लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि वे पस्तहिम्मती नहीं दिखाते, एक उम्मीद हर जगह जताते हैं, जुल्मोसितम के अंधेरे छटेंगे और बेहतर भविष्य की सुबह आयेगी। दस्ते तहे संग की नज़्मों वतन बदर होने से पहले की हैं मगर उनमें भी उनकी कैद की जिंदगी में मिले दर्द की कलात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। भाषायी पैराडाक्स का बेहतरीन इस्तेमाल भी जनाब नारंग को नज़र नहीं आया, विचारधारा का बंधन दिखायी दे गया। नज़्म की पहली दो पंक्तियां उस दर्द का इज़हार करती हैं मगर, उनके बाद दो पंक्तियां उस मायूसी को पैराडाक्स की शकल दे देती हैं :

बेज़ार फ़ज़ा, दरपये आज़ार सबा है
 यूँ है कि हर इक हमदम-ए-देरीना ख़फ़ा है
 हां बादक़शो, आया है अब रंग पे मौसम
 अब सैर के काबिल रविशे आबोहवा है

(नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 316)

गोपीचंद नारंग इस पूरी नज़्म का एक संरचनावादी पाठ पेश करने का दम भरते हैं और यह घोषणा करते हैं कि यह कविता 'न तो प्रेम कविता है और न राजनीतिक कविता'। मगर जब इस नज़्म के मेटाफ़र व्याख्यायित करने लगते हैं तो उनके

सामाजिक-राजनीतिक पक्ष ही उजागर करने पर मजबूर होते हैं। इस पूरी कविता में 'इल्जाम की बरसात', 'ज़हर हलाहल', 'जुल्म', 'जेल', 'जंजीर', 'सज़ा', 'हथकड़ियां' और अंत में गालिब से लिये हुए बिंब, 'गिरफ्तारी', 'चट्टान के नीचे दबा हाथ' क्या उस राजनीतिक चेतना के बग़ैर व्याख्यायित किये जा सकते हैं जिसकी वजह से शायर आखिरी दिनों तक अपने निर्वासन में भी 'अर्ज-ए-वतन' से कहता रहा कि

हम तो मजबूर-ए-वफ़ा हैं, मगर ऐ जान-ए-जहां
अपने उश्शाक से ऐसे भी कोई करता है
तेरी महफ़िल को खुदा रखे अबद तक कायम
हम तो मेहमां हैं घड़ी भर के हमारा क्या है

(नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 645)

एक ऐसे शायर की शायरी की संरचनावादी व्याख्या करके उसके अर्थ को विकृत करना उसकी विचारधारा के विरोधियों का एक शगल रहा है जो अपने वतन और दुनिया की उस जनशक्ति को अपनी महबूबा की तरह देखता है जिसकी मुक्ति के लिए वह तड़पता है, और जीवन के अंत तक अपनी विचारधारा से विचलित नहीं होता। संरचनावाद का जप करने से या अल्थ्यूसर और रोलां बार्थ का नाम स्मरण कर लेने से संरचनावादी व्याख्या भी नहीं होती और की जायेगी तो निहायत विकृत और फूहड़ किस्म की ही होगी।

कुछ लोगों ने फ़ैज़ के बारे में यह भी कहा कि वे अपनी मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति शंकालु हो रहे थे और उनका कमिटमेंट कमज़ोर पड़ रहा था, सोवियत व्यवस्था से उनका मोहभंग हो रहा था। उनका देहांत 1984 में हुआ था, सोवियत संघ का विघटन बाद में हुआ था। ये आरोप मनगढ़ंत ही हैं, इस तरह के आरोप हिंदी में मुक्तिबोध पर भी लगाये गये थे, रचनाओं में इस तरह की दूर की कौड़ी लाना और शायर को लांछित करना प्रतिक्रियावाद की शरारत ही कही जायेगी। ऐसे लोगों से ही वे अपने अंतिम दिनों की एक सुंदर प्रेरणादायक नज़्म, 'इधर न देखो' में कहते हैं :

उधर भी देखो
जो हर्फ़-ए-हक़ की सलीब पर अपना तन सजा कर
जहां से रुख़सत हुए
और अहले जहां में इस वक़्त तक नबी हैं

(नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 717)

फ़ैज़ साहब की शायरी की यही तो ख़ूबी है कि वे इश्क़, वतन से मुहब्बत, अपनी इन्क़लाबी विचारधारा, और दुनिया के मेहनतकशों और वंचितों व मज़लूमों के साथ

हमदर्दी और अपने निर्वासन के दर्द को इस तरह अपनी शायरी में घुलामिला देते हैं कि उसमें यथार्थ की बहुत सारी परतें कलात्मकता की नयी झलक देती हैं। उनकी एक गज़ल के इस शेर को देखें:

ऐसे नादां भी न थे जां से गुज़रने वाले
नासेहो, पंदगरो राहगुज़र तो देखो

नुस्खा हाए वफ़ा, पृ. 280 , मंटगोमरी जेल, 4 मार्च 1956)

उनकी विचारधारा के विरोधी भी उनकी कलात्मक संश्लिष्टता पर मोहित हैं और उन्हें अपनी घटिया आलोचना का शिकार नहीं बना पाते। हम लोगों का प्यारा यह शायर उर्दू में ही नहीं, पूरी दुनिया के अदब में हमेशा हमेशा एक चमकता सितारा रहेगा।

रचनाकाल : दिसंबर 2009

‘अमन का राग’ : एक कालजयी रचना

हिंदी साहित्य में बहुत सी कालजयी रचनाओं की परख और उन पर साहित्यिक विमर्श होता रहा है, छायावादी दौर की ‘राम की शक्तिपूजा’ समेत कई कविताएं इस कोटि में बहुत पहले आ गयी थीं, नयी कविता के दौर की भी कई कविताएं इस कोटि में रखी गयीं, उन पर लेख और पुस्तकें तक लिखीं गयीं। मगर शमशेर बहादुर सिंह दुरूह कवि माने गये और उनकी बहुत सी रचनाओं का काव्य सौंदर्य और उनमें निहित उनकी काव्यसंवेदना की अनदेखी इसी पूर्वग्रह की वजह से हो गयी। उनकी एक कविता, ‘अमन का राग’ उसी तरह एक कालजयी रचना है जैसी मुक्तिबोध की ‘अंधेरे में’। यह बात तो सभी जानते हैं कि शमशेर की प्रतिबद्धता विश्वसर्वहारा वर्ग के तमाम मूल्यों के साथ थी, फ़ैज़ साहब और अपने सहचर मित्र मुक्तिबोध की तरह वे भी दुनियाभर के मज़दूरों, शोषितों, वंचितों के साथ, उनके अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे के साथ, उनकी राजनीति यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के साथ और शोषणविहीन समाज बनाने के सर्वहारावर्ग के सपनों के साथ थे। उनकी रचनाशीलता स्वाधीनता आंदोलन के दौरान शुरू हुई थी, उस दौरान उभरे गांधीवादी मूल्य यानी सत्य, अहिंसा, शांति और प्रेम भी उनकी काव्यचेतना के हिस्से उसी तरह थे जिस तरह छायावादी कवियों की चेतना में आज़ादी के दौर की मुक्तिकामना। आज़ादी से जुड़े मूल्यों का ही विकास आगे चल कर सर्वहारावर्ग की विचारधारा तक हुआ क्योंकि उनसे उनकी नयी विचारधारा का ही पोषण होता था। यह प्रक्रिया दुनिया के सभी देशों में चली थी। उभरते पूंजीवाद ने समता, आज़ादी और मानव बंधुत्व के जनवादी मूल्य दुनिया को दिये थे, जो सर्वहारावर्ग ने भी अपनाये और उन मूल्यों के सारतत्व को वास्तविक बनाने की कोशिश की। शमशेर ने भी उभरते पूंजीवाद के गांधीवादी मूल्यों यानी सत्य अहिंसा और प्रेम व शांति के मूल्यों को अपनी काव्यचेतना का हिस्सा बनाया और उनसे आगे बढ़ कर सर्वहारावर्ग के मूल्यों को अपनाकर, खासकर वर्गचेतना से लैस हो कर, अपनी काव्यसंवेदना को विस्तार दिया।

शमशेर शांति और प्रेम के तो अप्रतिम साधक थे। जैसा कि मैंने *नया पथ* के जुलाई-सितंबर 2011 में प्रकाशित अपने लेख में लिखा है कि उनकी कविताओं में ‘मौन’ एक आवर्ती बिंब की तरह आया है जो उनकी काव्ययात्रा के सभी चरणों में मौजूद रहा, यह ‘मौन’ साधु संतों का मौनव्रत नहीं था, वह दर असल शांति और प्रेम की संवेदना का ही द्योतक है। दो विश्वयुद्धों की भयावहता ने दुनियाभर के लेखकों, कलाकारों की रचना-संवेदना को झकझोरा था, टी एस एलियट आदि आधुनिकतावादी कवियों ने उसको सांस्कृतिक ‘वेस्टलैंड’ के तौर पर चित्रित किया था और उसका समाधान भारत के

व्यक्तिआधारित उपनिषदिक दर्शन के 'दा, दमयति, दयाध्वाम्' में तलाश किया था। विश्वशांति के पक्ष में युद्धविरोधी कविताएं हिंदी साहित्य में भी आधुनिकतावादी दौर में कई कवियों ने लिखीं, नरेश मेहता, कुंवरनारायण, धर्मवीर भारती आदि इस तरह की रचनाओं के जानेमाने रचयिता थे। मगर आधुनिकतावादी कवियों ने युद्धविरोधी भावसंवेदन को जयशंकर प्रसाद की *कामायनी* के भावसंवेदन की तरह वर्गसंघर्षविरोधी भी बना दिया था। उनमें से ज्यादातर आधुनिकतावाद के भाववादी विश्वदर्शन से ही परिचालित थे, सार्त्र की तरह वे भी यह प्रचारित कर रहे थे, मनुष्य अकेला ही पैदा हुआ है और अकेलेपन में जीने के लिए अभिशप्त है। वे युद्धों को भी मनुष्य में बैठे हुए हिंसक पशु का उत्पात समझते थे जबकि विश्वयुद्ध तो साम्राज्यवादी ताकतों के द्वारा उपनिवेशों को हड़पने के लालच से लड़े गये थे। क्या इराक़ पर अमरीकी साम्राज्यवाद का हमला जार्ज बुश के भीतर बैठे हिंसक पशु की वजह से हुआ था, असली वजह सब जानते हैं कि असल कारण तो इराक़ के तेल पर कब्ज़ा करना था, अब ईरान पर नज़र है, बहाने वे ही पुराने हैं, जिन देशों की प्राकृतिक संपदा और वहां का बाज़ार उपलब्ध नहीं हो पा रहा, उन्हें किसी न किसी बहाने तबाह करने की योजनाएं रोज़ ही साम्राज्यवादी ताकतें बनाती हैं, उत्तरी कोरिया भी जो कि वहां की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में अपना सामाजिक विकास करने की कोशिश कर रहा है अमरीकी साम्राज्यवादियों की आंख का कांटा है, उस पर भी हमले की धमकी दी जा रही है। विश्वशांति के सबसे बड़े दुश्मन तो ये साम्राज्यवादी ही हैं, वर्गीय समझ के आधार पर ही विश्वयुद्धों के मूल कारणों को समझा जा सकता है।

शमशेर अपनी विचारधारा की वजह से जानते थे कि एक दिन ऐसा ज़रूर आयेगा जब विश्वमानवता खुद को साम्राज्यवाद के खूनी चंगुल से मुक्त कर लेगी क्योंकि उनके युद्धों से हर जगह अरबों पर कहर बरपा हुआ। मनुष्य के श्रम से बनी सुंदर चीज़ें, इमारतें, बाग़बगीचे और तमाम मानवमूल्य बरबाद हुए, हिरोशिमा नागासाकी में अणुबम की विनाशलीला ने तो सारी दुनिया को ही दहला दिया था। इसलिए विश्वशांति के आंदोलन के पक्ष में खड़ा होना तभी से हर संवेदनशील रचनाकार का मानवीय कर्तव्य बन गया है। आधुनिकतावादी रचनाकार भी उस विभीषिका से ही विचलित हुए थे। यह उनका सकारात्मक पक्ष था। मगर हमारे यहां सी आइ ए से संचालित 'कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ़्रीडम' के असर में आ कर भारत के आधुनिकतावादी कवियों ने अपनी इस चेतना को सिनिसिज़्म तक पहुंचा कर वर्गसंघर्ष के खिलाफ़ और प्रगतिवाद के खिलाफ़ भी मुहिम चलायी। वर्गसंघर्ष तो समाज की वास्तविकता है, वह नहीं होता तो समाज एक ही मंज़िल पर सड़ता रहता। क्या आज़ादी की लड़ाई वर्गसंघर्ष नहीं थी जिसमें हर कोई सचेत या अचेत रूप में शामिल था ही, वर्गविभक्त समाज में और दुनिया में जो भी चेतनायुक्त इंसान हैं, जाने अनजाने किसी न किसी वर्ग या पक्ष में उनकी हिस्सेदारी है ही, इस वास्तविकता से बचा नहीं जा सकता। उत्पीड़क और उत्पीड़ित में से किसी के पक्ष में न होना भी एक

पक्ष में होना ही है। आधुनिकतावादी मिथ्याचेतनावश अपने को 'नदी का द्वीप' समझते थे या खुद को 'एक उछली हुई मछली' मानते थे, 'मर्यादा दोनों ने तोड़ी है/ पक्ष चाहे सत्य का हो या असत्य का' जैसी शुचितावादी गुहार लगा रहे थे। उनकी यह चेतना भी वर्गीय चेतना ही थी, दर असल वे मध्यवर्ग की मिथ्या चेतना को ही प्रतिबिंबित करते थे। विश्वयुद्ध के विरोध में वे अपनी आदर्शवादी चेतना का इज़हार कर रहे थे, यह उन कवियों का एक सकारात्मक पहलू ज़रूर था, मगर उनका सिनिसिज़्म या सर्वनिषेधवाद उनका चेतना का नकारात्मक पहलू था जिसका शिकार आज का मध्यवर्ग भी है। शमशेर सचेत रूप से सर्वहारा के पर्सपेक्टिव से लैस हो कर विश्वशांति का सपना बुन रहे थे, यह बताने की यहां ज़रूरत नहीं कि वे अपनी 'वाम दिशा' का उद्घोष ढेर सारी कविताओं में कर चुके थे। उस समय विश्व के सभी देशों में कम्युनिस्ट आंदोलन उभार पर थे और उससे जो उत्साह पैदा हो रहा था उससे लगता था कि जंगखोर साम्राज्यवाद का शीघ्र ही विनाश हो जायेगा और समाजवाद के उदय के साथ विश्वशांति की स्थापना होगी। अपने इसी परिप्रेक्ष्य से वे अपना 'अमन का राग' रच रहे थे।

विश्वशांति के पक्ष में लिखी यह कविता अपनी पूरी बनावट में और गहरे भावसंवेदनों की संश्लिष्टता के कारण अप्रतिम है। कवि एक ऐसे समाज का सपना बुनता है जहां विश्वशांति होगी, संस्कृतियों का संगम होगा, पूरी दुनिया की कला, संगीत, साहित्य यानी जो भी इस दुनिया में सुंदर रचा गया है, शांति के विकास और परस्पर भाईचारे को बढ़ाने के लिए समर्पित होगा, सभी उसका आनंद ले सकेंगे, यानी विश्व के अवाम का सौंदर्यबोध इस क़दर उन्नत होगा कि विश्वमानव सही अर्थों में विश्वग्राम का नागरिक होगा। दुनिया की सभी संस्कृतियों के परस्पर मिलन को शमशेर ने एक फ़ैंटेसी में पिरोया है।

इन संस्कृतियों में आपस में कोई 'क्लैश' नहीं, कोई टकराव नहीं, इसे शमशेर दमदार तरीक़े से 'सच्चाइयां', 'हकीकत' के रूप में बिंबित करते हैं। कविता की पहली पंक्ति में सिर्फ़ एक शब्द है: 'सच्चाइयां'। फिर एक पंक्ति आती है : ' देखो न हकीकत हमारे समय की...'। कविता के मध्य में एक पंक्ति आती है, 'ये सच्चाइयां बहुत गहरी नींवों में जाग रही हैं।' यह कविता सचमुच एक 'हकीकत' बयान करती है, वह हकीकत यह है कि दुनिया की संस्कृतियों, सभ्यताओं में कोई संघर्ष नहीं है, उन्हें दुनिया के अमर रचनाकारों, कलाकारों ने और मानव-आत्मा के शिल्पियों ने रचा है। 1990 में एक अमेरिकी प्रोफ़ेसर, सेम्युएल पी. हटिंगटन ने जो 'सभ्यताओं का टकराव' नामक थियरी पेश की थी, वह झूठ का पुलिंदा थी। 5 नवंबर 2001 के दिन अमेरिका के वामपंथी चिंतक, नॉम चॉम्स्की का एक भाषण दिल्ली स्कूल आफ़ इकनामिक्स के हाल में हुआ था जिसे मैंने सुना था, वह अब प्रकाशित रूप में भी उपलब्ध है, उन्होंने इस थियरी का जवाब देते हुए और हटिंगटन का मखौल उड़ाते हुए साम्राज्यवादी तत्वों को ही विश्वयुद्धों का गुनहगार ठहराया था। उनके भाषण का अंत इस वाक्य से हुआ था कि इस थियरी में कोई सच्चाई नहीं

है। शमशेर की कविता भी यही बात जोरदार ढंग से एक फैंटेसी के रूप में कहती है कि संस्कृतियों में कोई टकराव है ही नहीं, सच्चाई यही है। अगर यकीन न हो तो पाकिस्तान और भारत के किसी भी संस्कृतिकर्मी से बात कर के देख लो, अब तो किसी भी देश के रचनाकार, कलाकार से पूछ लो, और दुनिया के किसी भी वर्गचेतस सर्वहारा से या उससे प्रतिबद्ध चिंतक से पूछ लो, नॉम चॉम्स्की तो हमें बता ही गये, फ्रेडरिक जेम्सन से या टेरी ईगल्टन से पूछ कर देख लो, या दुनिया की सारी कम्युनिस्ट पार्टियों के आपसी भाईचारे के बारे में, विश्वशांति पर उनके विचारों की पड़ताल करके देख लो। ये सभी उस साम्राज्यवादी चिंतक के कटु आलोचक होंगे जिसने 'सभ्यताओं के टकराव' की थीसिस दुनिया के सामने पेश की।

शमशेर की कविता, 'अमन का राग' आज भी किस तरह संगत है मानो वह हटिंगटन की थीसिस का जवाब दे रही हो। हटिंगटन की थीसिस में एडवर्ड सईद ने उचित ही हिटलर की विचारधारा को पाया, और आश्चर्यजनक तरीके से उस थीसिस के विचार हमें आर एस एस के गुरु गोलवलकर की किताब, 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफ़ाईंड' (1939) में व्यक्त प्रजातिवादी विचारों के समरूप देखने को मिलते हैं। असत्य पर आधारित ऐसे ही विचारों के प्रचार से भारत को विभाजन की त्रासदी झेलनी पड़ी। 'अमन का राग' कविता का वाचक जो सपना देखता है उसमें मानव संस्कृति में विभाजन के लिए कोई जगह है ही नहीं, विश्व के सभी हिस्सों की संस्कृति से कविता के वाचक को प्यार है, रवींद्रनाथ ठाकुर ने भी अपने 'नेशलिज़्म' शीर्षक लेख में इसी तरह के विचार व्यक्त किये थे। यह कविता उसी सच्चाई का एक स्वप्नचित्र रचती है, इसीलिए 'सच्चाइयां' से शुरू होती है और पाठ के बीच में 'हकीकत' को रेखांकित करती है और अंतिम हिस्से में कबीर की आंखिन देखी की तर्ज पर 'आंखों' के आवर्ती बिंब का प्रयोग करते हुए उस 'हकीकत' का बयान करती है जिसे पूंजीवादी नेतृत्व देख पाता तो शांति का वातावरण कभी भंग न होता।

यह कविता भी शमशेर की अन्य कविताओं की ही तरह बहुत सारे चित्र रचती है, इनमें कुछ स्थिर चित्र हैं लेकिन ज्यादातर स्वप्नचित्र गतिमयता लिये हुए हैं, उनमें ललित कलाओं का कोलाज है। कविता का प्रारंभ जिन गतिमय बिंबों से हुआ है, उनमें भी इस कोलाज को देखा जा सकता है। उनमें 'सच्चाइयां/जो गंगा के गोमुख से मोती की तरह बिखरती रहती हैं' चित्रित की गयी हैं, 'चांदी के उन्मुक्त नाचते परों' का बिंब है, फिर 'एक हज़ार रंगों के मोतियों' का जिक्र है, और उसके बाद 'उमंगों से भरी फूलों की जवान कश्तियां' हैं। शुरू की ही ये पंक्तियां हमें पेंटिंग, नृत्य कला आदि के समन्वय का संकेत देती हैं। इस प्रारंभिक आधुनिक मंगलाचरण के बाद वाचक अपना संवेदनात्मक उद्देश्य पेश करता है:

ये पूरब पश्चिम मेरी आत्मा के तानेबाने हैं

मैंने एशिया की सतरंगी किरनों को अपनी दिशाओं के गिर्द
लपेट लिया
और मैं यूरोप और अमरीका की नर्म आंच की धूप छांव पर
बहुत हौले हौले नाच रहा हूँ
संस्कृतियां मेरे सरगम में विभोर हैं...

इन पंक्तियों में भी रचना पैटर्न वही है, पहले 'ताने बाने' से कैनवास का संकेत है, साथ ही 'एशिया की सतरंगी किरनों' में रंगों का उल्लेख उसी कैनवास से जुड़ा हुआ है और सांस्कृतिक बहुलता में एकता का सूत्र दर्शाता है जिस एकता के लिए वाचक यह राग रच रहा है। अपनी फैंटेसी में वह कहता है कि 'हम एक साथ उषा के मधुर अधर बन उठे/सुलग उठे हैं/सब एक साथ ढाई अरब धड़कनों में बज उठे हैं/सिंफोनिक आनंद की तरह...' यहां वाचक ने अपनी जनवादी राजनीतिक चेतना का भी संकेत दे दिया है, वह 'संसार के पंच परमेश्वर' को 'अखिल लोकप्रेसिडेंट' का मुकुट पहनाता है।

इस के बाद वाचक कहता है कि 'देखो न हकीकत हमारे समय की...' यह हकीकत उसी संवेदनात्मक उद्देश्य से परिचालित होती है जिसका सपना हम सब रचनाकार देखते हैं, इस कविता में सभी देशकाल के यानी दुनिया भर के भूत, वर्तमान और भविष्य के रचनाकार, संगीतकार, नर्तक और संस्कृतिकर्मी एक दूसरे से मिल रहे हैं, महाकाव्य की परंपरा में ढेरों नामों की माला गूंथी गयी है, होमर, शेक्सपीयर से ले कर अली सरदार जाफरी तक और सभी देशों के चोटी के कलाकार, रचनाकार, संगीतकार और फिर भूत, भविष्यत के भी इस कविता में अपनी कला के साथ मिलजुल रहे हैं। कविता का वाचक हर जगह के हर कला रूप, हर जगह के स्थापत्य, से प्यार करता है :

मुझे अमरीका का लिबर्टी स्टेचू उतना ही प्यारा है
जितना मास्को का लाल तारा
और मेरे दिल में पेकिंग का स्वर्गीय महल
मक्का-मदीना से कम पवित्र नहीं

युद्ध मनुष्य द्वारा रचे गये इस सौंदर्य को नष्ट करने में नहीं हिचकते और इसी लिए हर रचनाकार ने विश्वशांति का सपना देखा, विश्व की सांस्कृतिक एकता का सपना देखा। दुनिया की बहुरंगी रचनाशीलता की रक्षा का सपना विश्वशांति की स्थापना से ही पूरा हो सकता है। वाचक हमें इस सांस्कृतिक विविधता का चित्र फूलों की बिंबरचना द्वारा दिखाता है : 'पच्छिम में काले और सफ़ेद फूल हैं और पूरब में पीले और लाल/उत्तर में नीले कई रंग के और हमारे यहां चंपई-सांवले/और दुनिया में हरियाली कहां नहीं...' वाचक इस सच्चाई को दुनिया के बच्चों को बताता है और उनके लिए भी फूलों के बिंब का प्रयोग

करते हुए कहता है कि 'आज सब तुम्हारे ही लिए शांति का युग चाहते हैं ...मेरे गुलाब की कलियों-से हंसते खेलते बच्चों/तुम्हारे ही लिए, तुम्हारे ही लिए...' वाचक विश्वशांति में सांस्कृतिक एकता का जो सपना देखता है उसे 'सुख का भविष्य' बताते हुए कहता है कि 'यह सुख का भविष्य शांति की आंखों में ही वर्तमान है' और उसके बाद वाचक इन आंखों की अहमियत रेखांकित करता है :

ये आंखें हमारे इतिहास की वाणी
और हमारी कला का सच्चा सपना हैं...
ये आंखें ही अमर सपनों की हकीकत और
हकीकत का सपना हैं
इनको देख पाना ही अपने आप को देख पाना है समझ पाना है

हम मनाते हैं कि हमारे नेता इनको देख रहे हों

'अमन का राग' इस तरह तमाम साहित्य-कला के संदर्भों, तमाम राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक- सांस्कृतिक-राजनीतिक संदर्भों और विचारधारात्मक-भावात्मक पहलुओं को समाहित करती हुई एक अद्भुत संश्लिष्ट रचना है जो अपने 'टैक्श्चर' में भी और अपने स्ट्रक्चर में भी एक साथ बहुत कुछ है, वह रचनाकार के अपने गहन विचारधारात्मक संवेदनात्मक भाव से परिचालित एक कोलाज, एक महाकाव्य, एक चलचित्र, एक नृत्यनाटिका और एक सिंफनी है। उसमें इन तमाम कलारूपों के बिंब और उन कलारूपों से जुड़े कलाकारों, रचनाकारों, नर्तकों, संगीतकारों के चलचित्र की तरह सामने आते बिंब विश्व की सांस्कृतिक एकता का अनूठा सपना पेश करते हैं। यह विशेषता इस कविता की संरचना में भी समाहित है। उदाहरण के लिए, एक बार फिर कविता के प्रारंभ में उन्हीं पंक्तियों के 'टैक्श्चर' पर गौर करें जिनमें वाचक अपने 'स्व' का विस्तार करते हुए कहता है कि 'ये पूरब और पश्चिम मेरी आत्मा के तानेबाने हैं...' जैसा कि शुरू में मैंने बताया कि यह तानाबाना व्यापक 'कैनवास' का संकेत है, 'सतरंगी किरनों' में रंगों का ज़िक्र कलासृजन का द्योतक है ही, 'बहुत हौले-हौले नाच रहा हूँ' में नृत्यकला और 'सब संस्कृतियां मेरे सरगम में विभोर हैं' के भीतर संगीत बज रहा है। इसी तरह पूरी कविता में संस्कृति के विभिन्न अंग, सभी ललित कलाएं, उन हवालों के साथ हैं जिनसे विश्वसंस्कृति के साथ वाचक का लगाव 'अमन का राग' बन कर बजने लगता है, लेकिन उसका आस्वाद तभी संभव है, जब बर्कौल मार्क्स 'संगीत के आस्वाद के लिए संगीतप्रेमी कान हो'।

शमशेर की कविता में निहित सौंदर्य का आस्वाद इसी तरह इसे देखने और गुनने से लिया जा सकता है शायद। इसी पर्सपेक्टिव से शमशेर की कविता को देखते हुए मुक्तिबोध ने यह कहा था, ' 'शांति' पर लिखी शमशेर की कविता क्लासिकल ऊंचाइयों की उपलब्धि कर चुकी है'।

2.

शमशेर : इतने पास अपने

शमशेर जी से मुलाकात उस समय हुई थी जब वे दिल्ली विश्वविद्यालय की ट्यूटोरियल लाइब्रेरी बिल्डिंग की पहली मंज़िल पर एक कमरे में उर्दू विभाग की एक योजना के तहत 'उर्दू-हिंदी शब्दकोश' बनाने के काम के सिलसिले में रोज़ बैठते थे और मैं एम. ए. अंग्रेज़ी करने के दौरान और फिर एक सांध्य कालेज में अंग्रेज़ी के लेक्चरर हो जाने के बाद हिंदी एम ए करने के दौर में यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में ही ज़्यादा समय बिताता था। मेरा यह सिलसिला 1967 से 1980 तक जारी रहा। मेरा ज़्यादातर लेखन भी उस दौर में लाइब्रेरी में ही हुआ था। शमशेर जी के बाद उसी काम में त्रिलोचन शास्त्री जी भी लगे थे और उनके साथ भी उसी तरह की बैठकबाज़ी होती थी, बल्कि वे तो खुद लाइब्रेरी में आकर मुझे तलाश कर लेते थे और दिन में कई बार पान या चायपान के लिए बाहर निकाल ले जाते थे। शमशेर जी संकोची थे, उन से तो उनके कमरे में ही जाकर मिला जा सकता था। फ़रवरी 1976 में मैं भी माडल टाउन में 'के' ब्लाक के एक मकान की छत पर बनी दो कमरे की बरसाती में शिफ्ट हो गया था। उन दिनों माडल टाउन लेखकों की एक बस्ती की तरह लगता था, हर गली में एक दो लेखक रह रहा था, डा. नगेंद्र, रामदरश मिश्र, राजकुमार शर्मा, आनंद प्रकाश, सुधीश पचौरी, मलयज, मुरलीमनोहरप्रसाद सिंह, अजित कुमार और स्नेहमयी चौधरी, कृष्णदत्त पालीवाल, विश्वनाथ त्रिपाठी, रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, बालस्वरूप राही आदि सभी उसी बस्ती में रहते थे, किसी ने बताया कि वियोगी हरि भी वहाँ उन दिनों रहते थे हालांकि मैंने कभी उन्हें देखा नहीं और न ही मैं उन्हें पहचानता था, मुझे यह सच भी नहीं लगता था। शमशेर जी उस समय अजय सिंह जी के परिवार के साथ, जी-3/28 नं. के मकान के ग्राउंड फ्लोर पर रहते थे जहाँ अक्सर रविवार को मैं गपशप के लिए चला जाता था, वहाँ प्रायः मलयज भी होते थे। त्रिलोचन जी जो बाद में आये थे, वहीं पास ही में एक बरसाती में रहने लगे थे, उनसे तो लाइब्रेरी के प्रांगण में ज़रूरत से ज़्यादा मिलना हो ही जाता था, इसलिए घर पर 'सत्संग' करने की नौबत नहीं आती थी, मगर शमशेर जी से मिलना उनके आवास पर ही होता था। त्रिलोचन जी मेरे घर पर भी आ जाते थे, मगर शमशेर जी ने सिर्फ़ एक बार 'सरप्राइज़' दिया।

24 जून 1980 को क़रीब दस बजे सुबह वे मेरे आवास पर आये और उनके हाथ में उनका कविता-संग्रह, *इतने पास अपने* था। वे आ कर बैठे, पानी पिया और संग्रह पर 'डा. चंचल चौहान को बहुत स्नेह के साथ' लिख कर अपने सुंदर हस्ताक्षर और

बार्यीं ओर तारीख डाल कर मुझे संग्रह दिया। मेरी खुशी का कोई ठिकाना नहीं था, एक स्वप्न जैसा लग रहा था। उस समय तक मैं अपनी पी.एच.डी. जमा ही कर पाया था, 'डा.' तो नहीं ही था, मेरी दो तीन किताबें ज़रूर आ गयी थीं, मुक्तिबोध पर मेरी किताब जो 1976 में छपी थी शमशेर जी ने और त्रिलोचन जी ने भी देखी थी, *जनवादी समीक्षा* भी 1979 में छप चुकी थी। लेखक बिरादरी में मेरी भी गिनती होने लगी थी। बहुत सारे लेख लघुपत्रिकाओं में छप चुके थे, सो दोस्तों ने ठोकपीट कर आलोचक से मिलती जुलती शकल वाला 'कुछ' बना ही दिया था। शमशेर जी के लिए शायद आलोचना लिखने वाला कालेज का लेक्चरर 'डा.' ही रहा होगा। इसलिए नाम के साथ 'डा.' लगा दिया। *इतने पास अपने* संकलन की वह भेंट मैंने संभाल कर रखी हुई है आज भी, कई बार उस संग्रह की कविताएं पढ़ीं, पर उस पर लिखने की हिम्मत कभी नहीं जुटा पाया। मैंने अपनी दुर्बलता शमशेर जी को कभी नहीं बतायी। वे कविताएं मेरे लिए बहुत बहुत दुरूह थीं, मैंने उस समय के सबसे दुरूह माने जाने वाले कवि मुक्तिबोध की कविताओं के भाव और संवेदनों को अपने तई ग्राह्य कर लिया था, टी एस एलियट और स्टीफेन स्पेंडर तथा बिंबवादी कवि टी ई ह्यूम समेत अनेक कवियों को व्याख्यायित करने की गुस्ताखी कर सकता था और ऐसी गुस्ताख्यां कीं भी, मगर शमशेर जी की पहले की कविताएं और उक्त संग्रह की कविताएं कई बार पढ़ने के बाद भी मेरे लिए चुनौती ही बनी रहीं।

मैं सचमुच चाहता था कि मैं शमशेर जी पर लंबा लेख लिखूं, क्योंकि वे सचमुच बहुत स्नेह देते थे, वे मुझे इतने पास अपने समझते थे तभी खुद चल कर आये, दो मंज़िल चढ़ कर और मुझे भावविह्वल कर गये और इस तरह एक चुनौती भी अनजाने दे गये कि लो बेटा, बने फिरते हो कवि और आलोचक, देखो ये कविताएं और बताओ क्या इनके भाव-संवेदन, इसके बिंब तुम्हारे पल्ले पड़ रहे हैं। मुझे अपने आस पास कोई भाष्यकार भी नहीं मिला। शमशेर जी पर सिर्फ मुक्तिबोध का ही एक लेख पढ़ने को मिला था, जो उन्हें समझने में मददगार तो था, मगर उस तरह से कलाविश्लेषण न तो मेरी क्षमता के दायरे में था और न ही उसमें अनधिकार घुसपैठ करने की हिम्मत ही थी। फिर कुछ दिनों बाद एक लेख श्याम कश्यप ने *आलोचना* पत्रिका में लिखा था जिसमें उन्हें सी पी आइ का कवि सिद्ध करने की कोशिश थी, कविताओं का वस्तुपरक आकलन या उनके भाव-संवेदन की कोई व्याख्या नहीं ही थी। नामीगिरामी आलोचकों में से डा. रामविलास शर्मा ने शमशेर ही क्या, उस दौर के लगभग सभी कवियों को अस्तित्ववादी, रहस्यवादी आदि कह कर खारिज कर दिया था और भाष्य तो किसी की कविता का नहीं किया, अलबत्ता कवियों की निजी जिंदगी, खासकर 'कामवासना' आदि कविताओं में दिखाते रहे। उनकी आलोचना पद्धति वही थी जिसे पश्चिम के आलोचक 'बायोक्रिटिसिज़्म' कह कर और रोलां बार्थ जैसे गंभीर चिंतक भी खारिज कर चुके हैं। नामवरसिंह ने भी उस ज़माने में शमशेर जी की कविता के मर्म नहीं खोले थे, उन दिनों वे तो पश्चिम की नयी समीक्षा

के प्रभाव में आ कर और सूज़न सौटिंग का नाम उछाल कर व्याख्या के विरुद्ध हो गये थे, बाद में शमशेर जी की जीवनसंध्या की विदाईविला में सुंदरनगर से लौट कर उनकी कविता पर ज़रूर उन्होंने तन्मयता के साथ एक लेख लिखा जो शमशेर जी की रचनाशीलता समझने में कुछ हद तक पाठकों की मदद करता है। उन्होंने उनकी *प्रतिनिधि कविताएं* भी संपादित कीं, मगर उसकी भूमिका के तौर पर 'शमशेर की शमशेरियत' ही पेश की, और उस छोटी सी भूमिका में शायद यही उनके लिए संभव था। अशोक वाजपेयी जो कि कला मर्म को समझने वाले रचनाकार हैं, शायद शमशेर की कविताई का सौंदर्य पाठकों तक संप्रेषित कर पाते, मगर उन्होंने भी ऐसा कोई बृहद प्रोजेक्ट हाथ में नहीं लिया, औरों की ही तरह थोड़ी सी कभी कभार जुमलेबाज़ी भर की, हालांकि शमशेर जी मुझ से अपनी बातचीत में उन दिनों भी किसी लाभलोभ से प्रेरित हुए बगैर अशोक जी की बहुत तारीफ़ किया करते थे। विजयबहादुर सिंह ने *जनकवि* नामक संकलन में शमशेर जी की कविताएं शामिल कीं और भूमिका में, संक्षेप में, उन पर रस्म अदायगी के बतौर एक पैराग्राफ़ लिख कर अपने संपादकत्व का धर्म निभा दिया, पैरे के शुरू में ही 'तंत्री नाद कवित्त रस' वाला बिहारी का दोहा उद्धृत करके एक तरह से हथियार डाल दिये, डूबने के डर से। अब जहां ऐसे ऐसे 'एंजेल' चलने में डगमगाते रहे हों तो मैं किस डाल का पंछी हूँ कि शमशेर जी के काव्यगगन में उड़ने की हिम्मत करता, बस औरों की ही तरह मैं भी उन कविताओं का मूक आस्वाद करता रहा, 'ज्यों गूंगेहि मीठे फल कौ रस, अंतरगत ही भावै!'

शमशेर जी की कविताएं बार बार पढ़ने पर एक बात ज़रूर महसूस होती है कि पेंटिंग कला का पारखी हुए बगैर उनके सिरजे बिंब पकड़ में नहीं आ सकते। इस सच्चाई का आभास हमें इस बात से मिलता है कि उनके काव्यसंकलन, *इतने पास अपने* की 33 कविताओं में से ज़्यादा संख्या उन रचनाओं की है जिन्हें रचने की प्रेरणा किसी न किसी कलाकार की पेंटिंग्स देख कर या किसी की प्रदर्शनी देख कर मिली। अंग्रेज़ी कवि कीट्स ने अपनी एक मशहूर कविता 'ग्रीशन अर्न' पर बनी पेंटिंग से प्रेरित हो कर लिखी थी। उसका मानना था कि भौतिक पदार्थ पर बनी कलाकृति तो काल के गाल में चली जा सकती है लेकिन शब्द में तब्दील करने यानी 'वर्बल आइकन' बन जाने पर वह काल से होड़ ले पायेगी और कीट्स ने यही किया। शमशेर जी भी अपनी कविता में यही काम करते हैं, उन्होंने भी कीट्स की तरह काल को ललकारा, 'काल तुझसे होड़ है मेरी', पर्सपेक्टिव यही था, शब्द में चित्र को तब्दील करने से चित्र और साथ ही रचनाकार भी काल को अतिक्रमित कर जाते हैं। वे कलासौंदर्य के रचयिता हैं, वह सौंदर्य 'मकई से वे लाल गेहुंए तलवे' से ले कर 'फ़ान गॉग' और 'पिकासोई कला' तक बिखरा पड़ा है जिसे वे 'वर्बल आइकन' में तब्दील करते हैं। उनमें रचाव का यह स्तर और संवेदनात्मक संश्लिष्टता शुरू से नहीं थी। इस रचाव का विकास उनमें धीरे धीरे हुआ। आज उनकी सभी कविताएं देख कर उनकी रचनाशीलता के स्तर भेद देखे जा सकते हैं।

उदिता संकलन में उनकी शुरू की कविताएं संकलित हैं, उसमें एक छायावादी रोमानी कवि की रचनाएं हैं, कवि ने खुद उसकी भूमिका में यह स्पष्ट भी किया है, 'मेरी असली ज़मीन तो रोमानी ही थी, रोमानी ही बनी रही...'। उस दौर की कविताओं में छायावादी कवियों जैसी ही छंदरचना और भाषा ही नहीं, छायावादी मुक्तिकामना और नवीनता की चाह भी उसी तरह की है जो छायावादियों में उन बिंबों में व्यक्त हुई थी जो मुक्ति के अर्थ संकेत देते थे, जैसे वायु, बादल, नदी, सागर, इंद्रधनुष, चिड़िया, मधुप, फूल, तितली, बच्चा, हिमालय आदि। ये सारे बिंब शमशेर जी की कविताओं में नये संकेतों के साथ हमें मिलते हैं। उसी दौर में उनकी कविताओं में 'मौन' भी मुखर हुआ था, वह अज्ञेय में तो बाद में एक रूढ़ि बन कर व्यक्त हुआ। शमशेर जी की कविताओं में 'मौन' की मुखरता शुरू से ले कर आखिर तक व्याप्त रही। शुरू के दिनों की एक कविता, 'कवि-कला का फूल हूं मैं' उनके रोमानी दौर की सारी खूबियां समाहित किये हुए है :

प्रेम-नभ का मैं जलद हूं

उर मिलन के उपवनों पर

धीर वर्षा राग हूं मैं

विरह के सूने क्षणों में

स्नेह सागर पार भी

चिर मौन तट की धूल हूं मैं

(उदिता, पृ. 18)

उसी दौर की एक अन्य कविता, 'आज हृदय भर भर आता है', में भी 'कितने प्रश्न हो गये उत्तर/ मौन हृदय में ही उठ उठ कर!' और 'आदि सत्य के मौन कठिनतम' का उल्लेख है। यह 'मौन' उस समय की लगभग सभी कविताओं में मौजूद है जैसे, 'साथ, सम, शांत', 'कितनी करुणा का सागर', 'शरबत-सी आंखों की बानी', 'आज मई की शाम अकेली', 'कौन बुलाता मेरे पथ से मुझको', 'मौन राग ही', 'मृत्यु का प्रस्तर खंड', 'शाम की मटमैली खपरैल', 'ज्योति', 'मेरा झूठा मान', 'वह भी दिन एक था', 'कर्म करो', 'बार बार मन चाहता हे', 'लहरें/शाम/वह नगर', 'ओ मा शक्ति', 'बोलो - आकाश...क्यों मलिन', 'लुटी-मीठी बांसुरी की धुन', 'तुम्हें तो', 'इंदु विहान', 'ऋतुओं के पार आज' जैसी कविताओं में। ये कविताएं उदिता संग्रह में संकलित हैं, जिनमें 'मौन' शब्द एक इमेज के तौर पर बार बार आया है। इस संग्रह में गज़लें भी हैं, उसी दौर की और उनमें भी 'मौन' का पर्याय 'खामोशी' आया है, 'आरजूओं की बियावानी है और खामोशियां' और संग्रह की आखिरी गज़ल में भी 'खामोशिए दुआ हूं, मुझे कुछ खबर नहीं' का काव्यात्मक प्रयोग हुआ है।

'मौन' की इमेजरी शमशेर जी की कविता में आखिरी दिनों तक किसी न किसी

रूप में मौजूद रही, 'मौन' के अलावा कहीं 'खामोशी' कहीं 'मूक', कहीं 'गूंगी', या 'गूंगा' के रूप में उसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। यह इमेजरी दर असल 'बड़बोलेपन' का प्रतिरोध या 'शोर' का प्रतिरोध करती है जैसे बड़े कलाकारों की पेंटिंग्स करती हैं। दूसरे स्तर पर यह इमेजरी युद्धविरोधी चेतना और 'शांति' के संकेत देती है। शमशेर जी सत्य और प्रेम तथा शांति के लिए समर्पित कवि थे, वे साहित्यकारों की आपसी कलह तक से दुखी हो जाते थे, इसे उन्होंने एक कविता तक में बड़ी तल्लीनता के साथ अभिधा में ही व्यक्त किया है। वे शांतिप्रिय थे, एक ऐसी दुनिया का सपना उन्होंने अपने भीतर सजा रखा था, जहां प्रेम होगा, भाईचारा होगा, विश्वशांति होगी, इसी सपने की कलात्मक अभिव्यक्ति 'अमन का राग' जैसी महान कविता में हुई।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद दुनियाभर में अनेक कवियों, कलाकारों ने युद्धविरोधी रचनाएं कीं, शांति और प्रेम का पैगाम दे कर मानव सभ्यता को विकसित करने के लिए अपनी रचनाशक्ति का इस्तेमाल किया। शमशेर जी के 'मौन' के आवर्ती बिंब इसी भावसंवेदन का संकेत देते हैं। इसी तरह उनकी प्रेमकविताओं को भी 'लिरिकल' यानी बिल्कुल 'निजगत' नहीं माना जा सकता, हालांकि मुक्तिबोध ने अपने लेख में उन्हें 'निजगत' ही माना था। निजी 'प्रेम' एक भावसंवेदन के रूप में मौजूद जरूर रहता है, मगर वे कविताएं शब्दों से तराशी गयी पेंटिंग्स या संगमरमरी मूर्तियां हैं, जिन्हें अपनी आस्वादक आंख से पाठक देख और महसूस कर सकते हैं। उनकी कविताओं की यह मूर्तिमयता उसी तरह अद्भुत और नयी है जैसी चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी, 'उसने कहा था' की चलचित्रमयता थी। इस कला में शमशेर जी पश्चिम के बिंबवादी कवियों से भी आगे निकल जाते हैं, क्योंकि पश्चिम के इमेजिस्ट अपने बिंबों को प्रतीकों की भाषा देते दिखायी देते हैं, शमशेर जी ऐसा कोई सायास प्रयास करते नज़र नहीं आते, वे बस एक से एक बेहतरीन 'वर्बल आइकन' बिना ठेनी हथौड़ी हाथ में लिये गढ़ते हैं, छीलछाल उनके अभ्यंतर में चलती है।

शब्दों से चित्र या मूर्ति गढ़ते समय भी वे रंगों का इस्तेमाल जरूर करते हैं। रंगों के विविध प्रयोग उनके *इतने पास अपने* संकलन की लगभग सभी कविताओं में देखे जा सकते हैं क्योंकि ज़्यादातर कविताएं एक पेंटर की तरह रंगों को शब्दों से व्यक्त करते हुए रची गयी हैं। उनमें 'बादलों के मौन गेरू-पंख, सन्यासी खुले हैं/ श्याम पथ पर'। उनमें 'कथई गुलाब/दबाये हुए हैं/नर्म नर्म/ केसरिया सांवालापन'। इस तरह के चित्रों का रचनात्मक आस्वाद इनमें समाहित रंगों के दृश्यबिंबों से ही लिया जा सकता है। शमशेर जी इन बिंबों में न तो बिंबवादी कवियों की तरह और न ही डब्ल्यू बी येट्स या टी एस एलियट या अज्ञेय, यहां तक कि अपने सहचर मित्र मुक्तिबोध की तरह भी किसी तरह का प्रतीकार्थ भरते हैं। 'गोया वो...' कविता जो कि प्रो. एजाज़ हुसैन पर लिखा एक बेहतरीन शोकगीत है की शुरुआत में ही रंगों के साथ रचे चित्र को देखिए :

गोया वो सामने ही हैं
 अपनी सांवली सांवली सी पहचान में
 काव्योक्तियां मुस्कराते
 पान की लालियों से शाम के होठों पर
 मन के चित्र बनाते...

और इस कविता का अंत होता है एक वक्तव्य से,
 यहां सचमुच

--किसी कैमरे को यकीन न आयेगा
 वहां सब कुछ सब कुछ निरावरण है
 जो, जो कुछ है वही है।

और यह वक्तव्य अभिधा में ही है, शमशेर जी की रचनाप्रक्रिया को समझने के लिए एक कुंजी है।

दर असल, हम कविता को पैराफ्रेज़ करके और फिर उसके अर्थ ढूंढने के आदी हो चुके हैं, इस वजह से कविता को 'वर्बल आइकन' या शब्दों से चित्रित सीनरी के तौर पर मन की आंख से देखने की हमारी आदत बनी नहीं है। शमशेर जी हमें ऐसी शाब्दिक पेंटिंग्स दिखाते हैं, काश हम उन पेंटिंग्स को देख पाने लायक अपने भीतर कलाप्रेमी आंख पैदा कर पाते! 1943 में लिखी तीन पंक्तियों की एक कविता, 'गायें' को अगर पाठक पेंटिंग की तरह देखे तो उसका आनंद ले पायेगा, तुलसीदास के सोरठे की तरह देखेगा तो कुछ भी हाथ नहीं लगेगा:

गायें मैली, सफ़ेद, काली, भूरी।
 पत्थर ढुलके पड़े। पेड़ स्थिर नीरव।
 दो पहाड़ियां धूम-विनिर्मित पावन।

इन तीनों पंक्तियों पर गौर करें, इनमें गायें, पत्थर, पेड़, पहाड़ियां, धूम रंगों से बने चित्र हैं, स्थिर अचल, जैसे चित्रकार के ब्रश से बने होते हैं। 'धूम-विनिर्मित पावन' से मनुष्य की उपस्थिति का संकेत है, जैसा अंग्रेज़ी के महान रोमानी कवि विलियम वर्डस्वर्थ की मशहूर कविता, 'टिंटर्न एब्बी' में है।

शमशेर जी के शब्दचित्रों में सभी जगह स्थिर बिंब नहीं हैं, जहां गतिमयता की ज़रूरत है, वहां भावसंवेदन खुद ही चित्र में गतिमयता लाने के लिए उन्हें बाध्य कर देते हैं। जब 12 जनवरी 1944 को ग्वालियर की सामंती सरकार ने मज़दूरों के संघर्ष का दमन करते हुए गोलियां चलायीं, तो शमशेर जी ने 'य' शाम है' शीर्षक से एक 'भावचित्र' खींचा। यह चित्र एक स्थिर सीनरी नहीं हो सकता था। 'धुंआ' की इमेज इस कविता में आवर्ती बिंब की तरह रची गयी है, मगर 'गायें' की तरह स्थिर रंगचित्र के रूप में नहीं, यहां हर पैरे में गतिमयता है, क्योंकि 'धुआं धुआं / सुलग रहा / ग्वालियर के मज़ूर का हृदय'।

कविता के पहले पैरे में 'लपक उठीं लहूभरी दरांतियां', दूसरे में 'धुआं धुआं / सुलग रहा', तीसरे में 'कराहती धरा', और अंतिम पैरे में '...चल रहा/ लहूभरे गवालियर के बाज़ार में जुलूस :/ जल रहा/ धुआं धुआं / गवालियर के मज़ूर का हृदय।' पूरा चित्र उस जुलूस को एक गतिशील रील की तरह हमारी आंखों के सामने ला देता है जिसमें वाचक के भावसंवेदन भी हम महसूस करते चलते हैं। यह है शमशेर की कला।

शमशेर की कविता यों तो बहुआयामी है, कहीं चित्रकला की तरह भावचित्र रचे हैं तो कहीं सिने रील की तरह तो कहीं स्वरलहरी या सिंफनी की तरह। बहुत बड़ा रेंज है उनकी रचनाशीलता का। यही वजह है कि उनकी रचनाओं को किसी एक काव्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य से नहीं आंका जा सकता। चीनी गणराज्य पर लिखी कविता के लिए वे बायीं तरफ़ चीनी भाषा की चित्रलिपि देते हैं तो कई कविताओं के साथ एब्सट्रैक्ट रेखांकन भी उन्होंने दिया है। बहुत सी कविताएं 'कोलाज' की तरह रची हैं और उन्हें उसी रूप में देखने पर हम उनमें रचे बसे भावसंवेदन ग्रहण कर पाते हैं।

यहां यह बताने की ज़रूरत नहीं कि शमशेर जी की प्रतिबद्धता या हमारे इतने पास अपने पार्टनर की पालिटिक्स क्या थी। वे विश्वसर्वहारा वर्ग के तमाम मूल्यों के साथ थे, फ़ैज़ साहब और अपने सहचर मित्र मुक्तिबोध की तरह दुनियाभर के मज़दूरों, शोषितों, वंचितों के साथ, उनके अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे के साथ, उनकी राजनीति यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद के साथ और शोषणविहीन समाज बनाने के सर्वहारावर्ग के सपनों के साथ थे। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान उभरे गांधीवादी मूल्य यानी सत्य, अहिंसा, शांति और प्रेम भी उनकी काव्यचेतना के हिस्से थे क्योंकि उनसे उनकी विचारधारा का ही पोषण होता था। शांति और प्रेम के तो वे अग्रिम साधक थे। जैसा कि मैंने शुरू में कहा, उनकी कविताओं में 'मौन' जो उनकी काव्ययात्रा के सभी चरणों में मौजूद रहा, दर असल शांति और प्रेम की संवेदना का ही द्योतक है। विश्वशांति के पक्ष में युद्धविरोधी कविताएं हिंदी के कई एक आधुनिकतावादी कवियों ने भी लिखीं, नरेश मेहता, कुंवरनारायण, धर्मवीर भारती आदि इस तरह की कविताओं के जानेमाने रचयिता थे। मगर आधुनिकतावादी कवियों ने अपने युद्धविरोधी भावसंवेदन को जयशंकर प्रसाद की *कामायनी* के भावसंवेदन की तरह वर्गसंघर्षविरोधी भी बना दिया था। विश्वयुद्ध तो साम्राज्यवादी ताकतों के द्वारा उपनिवेशों को हड़पने के लालच से लड़े गये थे, तबाह हर जगह अवाम हुए, मनुष्य के श्रम से बनी सुंदर चीज़ें, इमारतें, बाग़बगीचे और तमाम मानवमूल्य बरबाद हुए, हिरोशिमा नागासाकी में अणुबम की विनाशलीला ने तो सारी दुनिया को ही दहला दिया था। इसलिए विश्वशांति के आंदोलन के पक्ष में खड़ा होना तभी से हर संवेदनशील रचनाकार का मानवीय कर्तव्य बन गया है, आधुनिकतावादी रचनकार भी उस विभीषिका से विचलित हुए थे। यह उनका सकारात्मक पक्ष था। मगर सी आइ ए से संचालित 'कांग्रेस फ़ार कल्चरल फ़्रीडम' के असर में आ कर अपनी इस चेतना को सिनिसिज़्म तक पहुंचा कर उन्होंने वर्गसंघर्ष के खिलाफ़

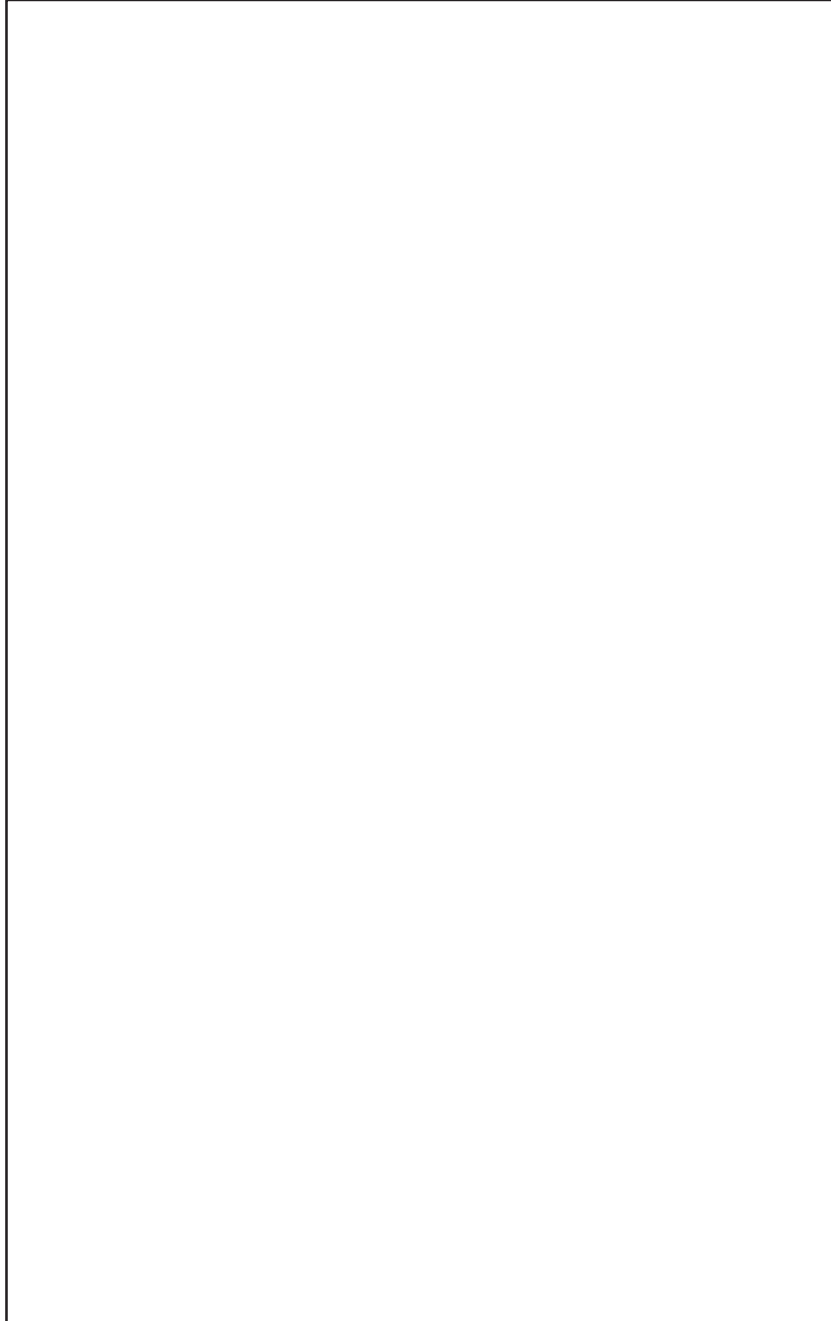
और प्रगतिवाद के खिलाफ भी मुहिम चलायी। वर्गसंघर्ष तो समाज की वास्तविकता है जिसमें हर कोई सचेत या अचेत रूप में शामिल है ही, वर्गविभक्त समाज में और दुनिया में जो भी चेतनायुक्त इंसान है, जाने अनजाने किसी न किसी वर्ग या पक्ष में उसकी हिस्सेदारी है ही, उससे बचा नहीं जा सकता। उत्पीड़क और उत्पीड़ित में से किसी के पक्ष में न होना भी एक पक्ष में होना ही है। आधुनिकतावादी जो अपने को 'नदी का द्वीप' समझते थे या खुद को 'एक उछली हुई मछली' मानते थे, 'मर्यादा दोनों ने तोड़ी है/ पक्ष चाहे सत्य का हो या असत्य का' जैसी शुचितावादी गुहार लगा रहे थे, दर असल मध्यवर्ग की मिथ्या चेतना को ही प्रतिबिंबित करते थे। विश्वयुद्ध के विरोध में वे अपनी आदर्शवादी चेतना का इज़हार कर रहे थे, यह उन कवियों का एक सकारात्मक पहलू ज़रूर था, उनका सिनिसिज़्म उनकी चेतना का नकारात्मक पहलू था जिसका शिकार आज का मध्यवर्ग भी है। शमशेर जी सचेत रूप से सर्वहारा के पर्सपेक्टिव से लैस हो कर विश्वशांति के पक्ष में खड़े थे, वे अपनी 'वाम दिशा' का उद्घोष ढेर सारी कविताओं में कर चुके थे। उसी परिप्रेक्ष्य से वे अपना 'अमन का राग' रच रहे थे।

विश्वशांति के पक्ष में लिखी यह कविता अपनी पूरी बनावट में और गहरे भावसंवेदनों की संश्लिष्टता के कारण अप्रतिम है। इस कविता का विश्लेषण अपने एक लेख में अलग से मैंने किया है, उसे यहां दोहराने की ज़रूरत नहीं। शमशेर की ही तरह हम भी एक ऐसे समाज का सपना बुनें जहां विश्वशांति होगी, संस्कृतियों का संगम होगा, पूरी दुनिया की कला, संगीत, साहित्य यानी जो भी इस दुनिया में सुंदर रचा गया है, शांति के विकास और परस्पर भाईचारे को बढ़ाने के लिए समर्पित होगा, सभी उसका आनंद ले सकेंगे, यानी विश्व के अवाम का सौंदर्यबोध इस क़दर उन्नत होगा कि विश्वमानव सही अर्थों में विश्वग्राम का नागरिक होगा। दुनिया की सभी संस्कृतियों के परस्पर मिलन को शमशेर जी ने जिस फ़ैंटेसी में पिरोया है :

ये पूरब पश्चिम मेरी आत्मा के तानेबाने हैं
मैंने एशिया की सतरंगी किरनों को अपनी दिशाओं के गिर्द
लपेट लिया
और मैं यूरोप और अमरीका की नर्म आंच की धूप छांव पर
बहुत हौले हौले नाच रहा हूं
संस्कृतियां मेरे सरगम में विभोर हैं...

शब्द चित्रों के अनुपम चितरे थे शमशेर जो हमेशा ही काल से होड़ लेते रहेंगे।

रचनाकाल : जून 2011



जनकवि शील: एक अडिग प्रतिबद्धता की मशाल

उपमा नामक लघु पत्रिका के जनवरी 1964 के अंक के संपादकीय में शील जी ने लिखा था: 'स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद, देश में न तो क्रांतिकारी समाज रचना का कोई सार्वजनिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया और न देश में अभी तक इतने बड़े जन आंदोलनों ने जन्म लिया कि संपूर्ण समाज राष्ट्र चेतना से गौरवान्वित होता। आज भी सामान्य जनता अंधेरे युग से गुज़र रही है। ऐसी स्थिति में नयी पीढ़ी के साहित्यकार और सामान्य जनता के उद्धार और उत्थान का प्रश्न है, क्योंकि उत्पादन के नये साधनों के व्यवहार से एक नयी चेतना ने जन्म लिया है किंतु राजनीतिक उत्पीड़न के कारण यह चेतना समर्थ नहीं बन सकी। नयी पीढ़ी के लेखक का भविष्य, सामान्य जनता के उद्धार और उत्थान से ही राष्ट्र बली, साहित्य धनी और साहित्यकार धन्य होता है।' शील जी द्वारा लिखित इस संपादकीय का सार वही है जो हमारे युग के महानतम रचनाकार मुक्तिबोध के पूरे कृतित्व का था कि 'मुक्ति कभी अकेले में नहीं मिलती / यदि वह है / तो सबके साथ है।' शील जी इस अडिग जन प्रतिबद्धता की मशाल थे, इसी के लिए वे स्वाधीनता आंदोलन में कूदे, इसी के लिए वे नाटककार बने, कवि बने। 'नया इंसान' बनाने की अदम्य इच्छा उनके लेखन की धुरी थी, जिसकी वजह से वे कविताओं के एक आयामी हो जाने के खतरे भी मोल लेते थे, जबकि कविता में उस समय कम से कम 'सात तरह की अर्थछवियों' (Seven Types of Ambiguity) की मांग की जा रही थी। नया इंसान या नया समाज बनाने की उनकी कल्पना और आकांक्षा हवाई नहीं थी, उन्हें संसार में हो रहे उस समय के बदलावों का ज्ञान था और विश्वपूँजीवाद तथा समाजवाद के बीच की बुनियादी टक्कर या अंतर्विरोध का पूरा अहसास भी था।

उपमा के दिसंबर 1963 के अपने संपादकीय में उन्होंने लिखा था कि 'साम्यवादी तथा पूँजीवादी दो विचारधाराएं आज उस सीमा पर आ पहुंची हैं जहां से भविष्य के संसार का अनुमान लगाया जा सकता है।' शील जी की प्रतिबद्धता का ठोसपन इसी चेतना से जुड़ा हुआ था। यह विश्वदृष्टि उन्होंने उस दौर में अर्जित की थी जब हिंदी साहित्य में या तो नयी कविता का बोलबाला था या फिर उभरते हुए सर्वनिषेधवाद का। मुख्य धारा 'सिनेसिज़्म या सर्वनकारवाद की थी जिसे हम अकविता या भूखी पीढ़ी, श्मशानी पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी के विभिन्न साहित्यिक नामों

से जानते हैं और जिसकी असलियत उन्हीं दिनों लिखी गयी कैलाश वाजपेयी की निम्नांकित पंक्तियां कह रही थीं:

दर असल हम बहुत बड़े ढोंगी थे
 अपने ज़माने के
 नफ़रत भी करते थे सत्ता से
 कायल थे
 पूछ भी हिलाने के

इस तरह के माहौल में जन प्रतिबद्धता में अडिग विश्वास और भविष्य के समाज के अपने स्वप्न को संजोये रख पाना आसान काम नहीं था। शील जी ने अपनी आस्था डगमगाने नहीं दी। जिस तरह मुक्तिबोध खुद से कह रहे थे, 'संक्रमणकाल है धैर्य धरो / ईमान न जाने दो।' और अपनी प्रतिबद्धता और अर्जित विचारप्रक्रिया पर अडिग रहते हुए ही अपनी काव्य संवेदना का विकास कर रहे थे, उसी तरह शील जी ने तमाम आधुनिकतावादी अंधड़ के बीच अपने ईमान को बचा कर रखा। उस दौर में अपनी मार्क्सवादी वैचारिक आस्था को बचाये रख पाना आसान नहीं था। भारत-चीन संघर्ष के दौर में कम्युनिस्टों के खिलाफ़ नफ़रत के ज़हर का फैलाव गली गली कूचा कूचा हो रहा था, शिखर के मार्क्सवादी नेता जेलों में बंद थे, और जिनका क़सूर सिर्फ़ यह था कि वे कह रहे थे कि विवादों को बातचीत से हल किया जाये, सैन्य शक्ति के प्रयोग से दोनों ही विकासशील देशों का नुक़सान है। इस 'क़सूर' के लिए उन्हें ग़द्दार या जयचंद का ख़िताब दिया जा रहा था, जबकि बाद में भारत सरकार को वही करना पड़ा जो उस समय मार्क्सवादी नेता कह रहे थे। मगर उस दौर में अंध प्रचार के आगे भला कौन किसकी सुनता? ऐसे कठिन दौर में भी शील और मुक्तिबोध जैसे कवि अपनी वैचारिक आस्थाओं पर अडिग रहे तो यह उनकी विवेकशीलता और गहरी जनप्रतिबद्धता का ही सबूत है। समाज में भी साठोत्तरी बरसों के शुरू के दिनों का यह अंधराष्ट्रवादी शोर ज़्यादा दिन नहीं चला और 1967 में जब राज्यों में चुनाव हुए तो कई राज्यों की विधानसभाओं में मार्क्सवादी उम्मीदवार भारी संख्या में चुनाव जीत कर आये, ज़्यादातर राज्यों में संविद सरकारें बनीं और कांग्रेस को मुंह की खानी पड़ी, हालांकि उसने जनवादविरोधी तिकड़मों से उन सरकारों को चलने नहीं दिया। शील जी ने शोषकशासक वर्गों की इन तिकड़मों को देखा था और इन वर्गों का हित साधन करने वाली राजनीतिक पार्टियों के असली वर्गचरित्र को पहचाना था जो कभी कांग्रेस के रूप में तो कभी जनसंघ या भाजपा के रूप में शोषणपाप के परंपराक्रम को जारी रखना चाहती हैं और जो मज़दूरवर्ग और उसके सहयोगी अन्य शोषित वर्गों के हितों की नुमाइंदगी करने वाली राजनीति और विचारधारा - मार्क्सवाद-लेनिनवाद - पर हमला बोलने के लिए तत्पर रहती हैं।

लेकिन देश के भीतर चलने वाले इस वर्गयुद्ध के बीच शील जी ने अपना पक्ष सचेत रूप से तय किया, वे मार्क्सवादी विचारधारा और राजनीति से जुड़े क्योंकि वे अपने कवि कर्म को सिर्फ लफ्फाजी तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। इसीलिए वे अपने शब्दों के बारे में कहते थे, 'कर्मवाची शब्द हैं ये'। उनका संवेदनशील रचनाकर्म इस कोशिश से इसलिए जुड़ा कि किसी तरह हिंदी-उर्दूभाषी क्षेत्र की जनता भी उसी तरह क्रांतिकारी रूप से जागरूक न हो जाये जैसे प.बंगाल, केरल, त्रिपुरा आदि राज्यों की जनता के वे जागरूक हिस्से हैं जो वर्गचेतस हो कर अपने दोस्त और दुश्मन की सही पहचान करने लगे हैं। उन्होंने अपनी कविता को इसी काम में लगाने की कोशिश की, इसीलिए हम उन्हें जनकवि शील के नाम से पुकारते हैं। उन्होंने अपनी एक कविता में कहा :

सुख सपनों के सुर गूँजेंगे
मानव की मेहनत पूजेंगे
नयी चेतना नये विचारों की
हम लिये मशाल
समय को राह दिखायेंगे
नया संसार बसायेंगे, नया इंसान बनायेंगे

यह संदेश था जनकवि शील का, जिसे उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से अपने देशवासियों को दिया और अपनी कविताओं में संजोया। एक संवेदनशील कवि होने के कारण ही वे पहले आज़ादी की लड़ाई में कूदे, उस समय वे देश के बहुत से स्वाधीनता सेनानियों की ही तरह गांधी जी के प्रभाव में आये। उन्होंने *चर्खाशाला* की रचना की, मगर धीरे धीरे जब उन्होंने अपने विवेक और अनुभव से कांग्रेस के पूंजीवादी-सामंती वर्गचरित्र को पहचान लिया तो वे मार्क्सवादी पार्टी में शामिल हुए और उसके बाद वे मजदूरवर्ग और उसकी विचारधारा व राजनीति से जीवनपर्यंत जुड़े रहे। मार्क्सवादी विचारधारा उनके लिए 'लालपंखों वाली चिड़िया' थी जिसे वे बेहद प्यार करते थे और जिसे वे भारत के जन जन के पास देखना चाहते थे। शील जी के पहले के कविता संकलन जैसे, *अंगड़ाई*, *एक पग*, *उदयपथ*, *लावा* और *फूल* अब उपलब्ध नहीं हैं। इसके अलावा उनकी सैकड़ों कविताएं पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। कुछ कविताएं 'कर्मवाची शब्द हैं ये' और कुछ 'लाल पंखों वाली चिड़िया' में संकलित हुई हैं। सभी कविताएं उनकी अटूट प्रतिबद्धता की गवाही पेश करती हैं। इसीलिए वे ज़्यादा कला-वला के चक्कर में नहीं पड़े, उन्हें जो कहना था सो कह दिया। उन्हें जो अच्छा लगा, उसे अच्छा कह दिया, जो अच्छा नहीं लगा, उसे अपनी कविदृष्टि से व्याख्यायित कर दिया। बहुत सारे कवियों की ही तरह उन्हें भी

आलोचक अच्छे नहीं लगते थे, सो उन्होंने कई कविताओं में आलोचकों की खबर ली और कविकर्म को सराहा :

कवि का कर्म, मर्म जीवन का
सत्य सृष्टि का
चेतन, अवचेतन का दृष्टा
आलोचक -
जड़चितन का।

लाल पंखों वाली चिड़िया संग्रह में उनकी कई कविताएं कविता के बारे में हैं। आठवें और नवें दशक में कविता के बारे में कविता लिखना भी एक काव्यरूढ़ि बन गया था। शील जी ने उसी के प्रभाव में आकर शायद वे कविताएं लिखीं मगर अपनी प्रतिबद्धता का संदेश देते हुए ही अपनी बात कही। उन्होंने कहा भी है :

हम कविता को नहीं जीते
कविता हमें जीती है
हमारा कालबोध --
कविता में ढल जाता है ।

शील जी अपने समय के निर्मम यथार्थ को प्रायः अभिधा में ही कहते थे, संप्रेषणीय रहे उनकी बात, शायद ऐसा ही उद्देश्य रहता होगा उनकी निगाह में। इसीलिए शील जी की कविता में व्यंग्य कम स्थलों पर है और भाषिक पैराडाक्स भी बहुत कम दिखता है वहां हमें इस तरह के वक्तव्य दिखते हैं :

विलासिता की अंधी दौड़ में गुंथी युवा चेतना
दूरदर्शन, आकाशवाणी का धिनौना
सरकारी आत्मबोध
सांस्कृतिक अवमूल्यन और कविता
सौंदर्यशास्त्री समीक्षक
कब तक प्रतिमान गढ़ते रहेंगे
कब तक आयी गयी होती रहेगी कविता
बड़ा निर्मम है यथार्थ
कविता के लिए

लाल पंखों वाली चिड़िया' शीर्षक कविता में भी शील जी अपनी कविता की प्रतिबद्धता बयान कर देते हैं, लंबे समय से एक संजोया हुआ वैचारिक स्वप्न बार बार उनकी कविता में अभिधात्मक तरीके से आता है:

हमारी कविता--

आदमी के रक्त की तरह लाल,
रक्त की गति की तरह आंदोलित

हमरी कविता की दुनिया

आदमीयत के अहसास की विवास की दुनिया है ।

हमारे समाज में आदमीयत के अहसास की जब भी कमी दिखायी दी, शील जी ने उस यथार्थ को अंकित ज़रूर किया। कांग्रेस की जनविरोधी नीतियों से जनता में जो आक्रोश पैदा हुआ, उसे सांप्रदायिक ताकतों ने अपने पक्ष में भुनाने की बार बार कोशिश की, और धर्म के नाम पर, राम-मंदिर के नाम पर बहुसंख्यक हिंदू अवाम को अपने पक्ष में कर लेने और कांग्रेस का विकल्प बनने का हिटलरी ख्वाब जब वे ताकतें देखने लगीं तो शील जी ने उन सांप्रदायिक ताकतों, खासकर आर एस एस और विश्वहिंदू परिषद जैसे तत्वों की असलियत अपनी कविताओं के माध्यम से खोली। उन्होंने लिखा :

घातक है धार्मिक उन्माद

लगा रहे हिंदू हिंदू के मस्तक पर कलंक का टीका

यह अप्रकट दुर्भाग्य देश का, खोल रहा दुर्मद अमरीका

आज़ादी में मिला देश को शरणार्थी गढ़ने का काम

सत्ता के हित अब शरणार्थी साध रहे हिटलरी तरीका

खून बहा शहरों नगरों में

हिंदू-मुस्लिम हुए फसाद

घातक है धार्मिक उन्माद

रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद के बहाने हिंदू सांप्रदायिक तत्वों ने जनता के विवेक पर ही हमला किया था। इन तत्वों की आक्रामकता का एक घिनौना अध्याय 30 अक्टूबर 1990 को लिखा गया था जिस दिन अयोध्या में आर एस एस और विश्वहिंदू परिषद की गुंडावाहिनी ने बाबरी मस्जिद को नुकसान पहुंचाने की पहली कोशिश की थी और मुलायम सिंह सरकार को पुलिस कार्रवाई करनी पड़ी थी। शील जी ने उस दिन को काला दिन की संज्ञा दी क्योंकि सांप्रदायिक नफरत और उन्मादप्रेरित हिंसा फैलाने और देश को फिर से विभाजन के कगार पर ले जाने की भाजपायी साजिश उस दिन कामयाब होती नज़र आ रही थी। शील जी ने लिखा :

काला दिन है काली रात

आम आदमी के विवेक पर

कुछ धर्मांध लगाये घात

काला दिन है काली रात

कंटक बनी तीस अक्टूबर
धंसा देश संकट के भीतर
चढ़ा रहे हिंदू जनता पर
पागलपन का नशा भयंकर

बांट रहे सिरफिरे धर्म में --
घर घर लाशों की सौगात

शील जी ने ऐसे हर विषय पर कविता की रचना की जो उनकी प्रतिबद्धता और संवेदना के दायरे में आती थी। व्यवस्था के प्रति उनका आलोचनात्मक रुख हो, या साम्राज्यवाद द्वारा की जा रही भारतविरोधी साजिशें हों, या धर्म की आड़ में देश का विखंडन करने की योजना बनाने वाले धार्मिक तत्ववादी हों, या मार्क्सवाद को मृत घोषित करने वाले बुद्धिजीवियों की जमात हो, कलावादी सौंदर्यशास्त्री या समीक्षक हों, अवसरवाद की गिरफ्त में जीने वाला मध्यवर्ग हो, सभी पर शील जी ने लिखा। उनकी कविताओं में मजदूर किसान के प्रति प्रेम मिलेगा और उनका शोषण करने वालों के खिलाफ एक भोली नफरत। मध्यवर्ग की असलियत चित्रित करते हुए वे उसके प्रति किसी आक्रोश का इज़हार नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि वह सर्वहारावर्ग का मित्रवर्ग है और वह भी बड़े पूंजीपतियों और भूस्वामियों के शोषणचक्र में फंसा है। मध्यवर्ग की इस असलियत को उनकी मशहूर कविता, 'बीच के लोग' उद्घाटित करती है :

घर में घर की तंगी मंगी
भ्रम में भटके बीच के लोग
लोभ लाभ की माया लादे
झटके खाते बीच के लोग

घना समस्याओं का जंगल
कीर्तन गाते बीच के लोग
नीचे श्रमिक, विलासी ऊपर
बीच में लटके बीच के लोग

'लोभ लाभ की माया लादे' मध्यवर्ग की इस असलियत को शील जी ने बहुत ही काव्यात्मक तरीके से व्यक्त किया है। हम यह भी जानते हैं कि मध्यवर्ग साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में काफी सक्रिय है, मानवमूल्यां के कई ऐसे अवसर आते हैं

जब यह वर्ग जनवादी मूल्य परंपरा का पक्ष भी लेता है और कभी इस परंपरा के विकास में अवरोधक भी बनता है। भारत के सामाजिक रूपांतरण में जहां मुख्य भूमिका मजदूरवर्ग, उसकी विचारधारा और उसके राजनीतिक संगठन की होगी, वहीं उसके सहयोगी वर्गों का भी महत्वपूर्ण योगदान होगा। इस अर्थ में मध्यवर्ग को भी सर्वहारावर्ग का मित्र और सहयोगी बनना होगा, अन्यथा वह भी बड़े पूंजीपतियों और बड़े भूस्वामियों की हितसाधक व्यवस्था में अबाध रूप से शोषित और दमित होगा। इसलिए शोषकवर्गों का 'कीर्तन गाते बीच के लोग' समस्याओं के घने जंगल में फंसे रहेंगे। शील जी उक्त कविता में इसी मध्यवर्ग को आगाह कर रहे हैं कि यों कब तक बीच में लटके रहोगे और पिसते रहोगे और पक्ष लेने से कतराते रहोगे। मगर यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि मध्यवर्ग तभी सर्वहारावर्ग के पक्ष में खड़ा होगा जब उसे लगने लगेगा कि सर्वहारावर्ग अपने सबसे निकट सहयोगी किसानवर्ग के साथ मिल कर सामाजिक रूपांतरण के लिए तैयार है। अभी तो हमारे देश का मध्यवर्ग विश्वपूंजी की तलछट में कुछ हिस्सेदारी हासिल करने के स्वप्न देख रहा है, उसे यह स्वप्न हमारे यहां के शोषकशासकवर्ग दिखा रहे हैं, इसीलिए अभी लाभलोभ का बाज़ार गर्म है और मध्यवर्ग की आंखें भी पूंजीपतियों की ओर ही लगी हैं, मजदूरवर्ग और उसकी विचारधारा तो उसे अप्रासंगिक लग रही है, उसे तो 'उत्तरआधुनिकतावाद' जैसी विश्वपूंजीवाद की विचारधाराएं अच्छी लग रही हैं जो उसकी सर्वनकारवादी मानसिकता के अनुकूल हैं। मध्यवर्ग के ऐसे बुद्धिजीवियों को जो इन विचारधाराओं पर फिदा हैं शील जी ने 'जमाने के मसखरे' की संज्ञा दी थी :

गमगीं उदास चेहरे, आंखें बुझी बुझी
 क्या होगी इनकी खातिर इक्कीसवीं सदी ?
 उत्थान के पतन के ये नकली मुहावरे
 कब तक भुना सकेंगे, जमाने के मसखरे ?

2.

शील जी की कविता और रोमानी भावबोध

शील जी पर ऊपर लिखा खंड हिंदी की *उदभावना* नामक पत्रिका के अंक 37-38 (जुलाई-सितंबर 1995) में छपा था जिसे थोड़ा संपादित करके मैंने ऊपर उद्धृत किया है। इधर पिछले दिनों रतलाम के मेरे एक मित्र और हिंदी कवि रतन चौहान ने शील जी की कविताओं के अंग्रेज़ी अनुवाद की एक पुस्तक, *आदमी का गीत (Song of Man)* मुझे दी जिसमें हिंदी मूल के साथ अंग्रेज़ी में अनूदित शील जी की 35 कविताएं छपी हैं। रतन चौहान ने कविताओं की मूल भावना के अनुकूल ही अच्छे अनुवाद किये हैं। इस पुस्तक में छपे शील जी के पत्रों से स्पष्ट है कि ये कविताएं शील जी ने खुद चुनी थीं और इसलिए उनके पूरे रचनासमय की बानगी मानी जा सकती हैं। इन कविताओं को एक साथ पढ़ने पर एक बात मन में कौंधती है कि हमारे बहुत से प्रगतिशील कवियों की ही तरह शील जी भी रोमानी भावबोध के ही कवि थे। दर असल, रोमानियत क्रांतिकारी भावचेतना से उपजती ही है, यह प्रक्रिया विश्व भर के साहित्यों में घटित हुई। यूरोप में फ्रांस की क्रांति के दौर में रोमानी भावबोध विकसित हुआ था, क्योंकि उस क्रांति के तीन नारों—समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व—ने कवि कल्पना को भी मुक्त आकाश दिया था। हमारे यहां भी रोमानी भावबोध का छायावादी काव्य-आंदोलन, बाल गंगाधर तिलक के नारे 'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' के गूँजने से ही, उद्भूत हुआ था क्योंकि पूरे समाज में स्वतंत्रता की चेतना विकसित हो रही थी। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में जब भारतीय मजदूरवर्ग भी अपनी राजनीतिक भूमिका निभाने के लिए संगठित रूप में आगे बढ़ा तो उसने सबसे पहले 'पूर्ण स्वराज' का नारा दिया। इससे भी सामाजिक चेतना में मुक्ति का अहसास और अधिक जोर पकड़ने लगा। चीनी साहित्य में भी मुक्ति संग्राम के विकास के साथ ही रोमानी और क्रांतिकारी चेतना का विकास हुआ था।

रोमानी भावबोध की पहचान क्या है? अक्सर साहित्य में रोमानियत को क्लासिकीय भावबोध के विलोम या निषेध के रूप में देखा जाता है। इसलिए यह जानना ज़रूरी है कि क्लासिकल साहित्य की कौन सी प्रवृत्तियां ऐसी हैं जिनका निषेध रोमानी साहित्य करता है। क्लासिकवाद की सबसे आधारभूत मान्यता यह है कि मनुष्य अस्तित्व की कुछ सीमाएं हैं जिन्हें अतिक्रमित करना मानव के वश की बात नहीं है, इसलिए मनुष्य को अपनी सीमाओं में ही रहना चाहिए, इसी से एक

तरह के नियतिवाद का विचार भी क्लासिकीय साहित्य में हर हालत में रहता है, 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा / को करि तर्क बढ़ावहि साखा'। ग्रीक साहित्य को देखें जो कि क्लासिकीय भावबोध का सबसे मानक उदाहरण माना जाता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वहां मनुष्य की एक नियति पहले से तय है, उसका अतिक्रमण करने की कोशिश में नायक त्रसदी का शिकार होता है। सोफ़ोक्लीज़ के मशहूर दुखांत नाटक 'राजा इडिपस' या 'एंटीगनी' की आधारभूत विचारधारा यह नियतिवाद ही है जिसमें नायक के जन्म के समय ही यह मालूम हो जाता है कि वह बच्चा बड़ा होने पर अपने पिता का क़ातिल होगा और अपनी ही मां से शादी करके संतान पैदा करेगा। इस डर से उसे जंगल में मार कर फेंकने का हुक्म होता है, मगर हत्यारा दयाभाव वश उसे जीवित ही छोड़ आता है और एक गड़रिया उसे पालता है। बड़ा हो कर वह समझता है कि उसके मातापिता गड़रिये ही हैं, इसलिए जब उसे अपने भविष्य के बारे में पता चलता है तो वह वहां से भाग खड़ा होता है और अंततः उसकी नियति उसे वहीं ले जाती है जो उसके जन्म के समय ही भविष्यवक्ता ने बतायी थी। उससे अनजाने ही अपने असली पिता की हत्या हो जाती है और अनजाने ही वह अपनी मां से शादी करके संतान भी पैदा करता है। ग्रीक समाज में जो उस समय दास समाज के स्तर तक ही विकसित हुआ था इस तरह की हत्या और सेक्स संबंध भयंकर रूप से पाप समझे जाते थे जिससे पूरी बस्ती किसी विपदा का शिकार हो सकती थी, सूरज तक काला पड़ सकता था। इडिपस को अपने पापकर्म का पता तब चलता है जब नगर में प्लेग फैलता है और उसके आग्रह पर वह भेद खुल जाता है। इडिपस को अपने पाप का जब पता लगता है तो उसकी दहलीज बहुत अधिक त्रसद हो उठती है। अरस्तू ने त्रसदी की संरचना के लिए इस नाटक को आदर्श करार दिया था। क्लासिकीय भावबोध का सबसे आवश्यक अंग यही नियतिवाद था जिसे मनुष्य को उसकी सीमाओं में रखने के लिए आविष्कृत किया गया था। हमारे मिथकीय क्लासिकवादी साहित्य और चिंतन में भी नियतिवाद का काफी बड़ा असर है। रावण का जन्म या राम का जन्म पूर्वघोषित शाप से होना तय हो जाता है, कंस का अपनी बहिन की संतान से वध तय हो जाता है। इस तरह के नियतिबद्ध कर्म के इर्दगिर्द ही महाकाव्यों या महाआख्यानों की रचना होती थी। क्लासिकवाद की यही धुरी थी, मनुष्य की सीमाओं का अंकन या नियतिवाद जिसे मनुष्य अतिक्रमित नहीं कर सकता।

इसी तरह, एस्खाइलस का ग्रीक महाकाव्य, *प्रोमिथियस बाउंड* का शीर्षक ही मनुष्य के सीमाबंधन को ध्वनित करता है जिसे मुक्त करने के उद्देश्य से ही महान रोमानी और क्रांतिकारी कवि शैले ने *प्रोमिथियस अनबाउंड* लिखा। अंग्रेज़ी में

उन्नीसवीं सदी के रोमानी साहित्य से पहले के अठारहवीं सदी के साहित्य को नवक्लासिकवाद का साहित्य माना जाता है क्योंकि उसमें घोषित रूप से अतिप्राचीन ग्रीक और रोमन साहित्य की मान्यताओं का पालन करने और उसे आदर्श मानने की बात खुले तौर पर कही गयी थी। नवक्लासिकवादी अंग्रेजी कवि अलेग्जेंडर पोप ने अपनी कविता, *एन ऐस्से आन मैन* में मनुष्य को अपनी सीमाओं में रहने की सलाह दी थी और अपने एक समकालीन दार्शनिक के रूढ़िवादी फ़लसफ़े को आधार बना कर कहा था कि 'आत्मानम् विद्धि'। उस फ़लसफ़े में कहा गया था कि जीवजगत एक श्रेणीगत सीढ़ी की तरह है जिसमें ईश्वर सबसे ऊपर है, उसके नीचे फ़रिश्ते हैं, फिर मनुष्य है, फिर जानवर, फिर वनस्पति और सबसे नीचे जड़ पदार्थ और पानी। इनमें से कोई अपनी सीढ़ी लांघकर ऊपर नहीं जा सकता, मनुष्य फ़रिश्ता नहीं हो सकता, फ़रिश्ता ईश्वर नहीं हो सकता। इसलिए जो जहां है, उसे वहीं अपनी सीमा में रहना चाहिए, यही संदेश इस नवक्लासिकीय साहित्य का भी था। दर असल इस विचारधारा को दासयुग के मालिकों ने ईजाद किया था और बाद में उसे हर जगह शोषक वर्गों ने किसी न किसी शकल में ज़िंदा रखा।

चार्ल्स डार्विन ने अपने वैज्ञानिक चिंतन से इसी रूढ़िवादी फ़लसफ़े को ग़लत साबित कर दिया और यह बता दिया कि पदार्थ जड़त्व को अतिक्रमित कर जीव में परिणत हुआ है और जानवर मनुष्य में रूपांतरित हुआ है। इसी विकसित चेतना से सामंतविरोधी रोमानी भावबोध पश्चिम के साहित्य में अस्तित्व में आया और हमारे यहां ब्रिटिश राजसत्ता से मुक्ति की चेतना के विकसित होने पर साहित्य में प्रकट हुआ। यह भावबोध आज़ादी के पूरे दौर में रहा, प्रगतिवाद के दौर में भी उसे देखा जा सकता है क्योंकि वह भी रूढ़िवाद के खिलाफ़ था। इसलिए शील जी की कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद पढ़ते हुए बराबर यही अहसास होता रहा कि ये कविताएं तो रोमानियत की कविताएं हैं।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में यह ग़लत धारणा फैलायी गयी है कि रोमानियत यथार्थवाद की विरोधी धारा है, जबकि सचाई यह है कि यथार्थवादी और रोमानी प्रवृत्तियों का उत्स सामाजिक विकास की एक ही मंज़िल में होता है और वह मंज़िल है पूंजीवाद के अभ्युदय की। जब पूंजीवाद नया नया अस्तित्व में आता है तो वह ज्ञानविज्ञान और सत्य की खोज के चौतरफ़ा रास्ते खोलता है क्योंकि वह उत्पादन के साधनों का वैज्ञानिक विकास करके अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमा कर खुद को इज़ारेदारी की मंज़िल की ओर ले जाने की ओर बढ़ता है। इसीलिए उसकी दिलचस्पी हर नये आविष्कार में होती है, विज्ञान के हर क्षेत्र को वह अपने मुनाफ़े के लिए इस्तेमाल के उद्देश्य से खुलने देता है। ऐसे में हर स्तर पर वैज्ञानिक सत्य जानने

की ललक पूरे समाज में पैदा होती है, साहित्य में वह यथार्थवाद के विकास के रूप में देखी जाती है। पश्चिम में उपन्यास और कहानी जैसी नयी विधाओं का जन्म भी इसी मंज़िल में हुआ था, हमारे यहां के साहित्यों में भी उपन्यास और कहानी जैसी विधाओं का आधुनिक रूप सामाजिक विकास की इसी मंज़िल में वजूद में आया था। नवोदित पूंजीवाद की यह मंज़िल वैज्ञानिक विकास के कारण समाज में मुक्ति की भावना भी जगाती है। पूंजीपतिवर्ग बाज़ार पर अपना कब्ज़ा करने के लिए राष्ट्र और राष्ट्रवाद की चेतना पैदा करता है। हमारे समाज में भी ये अवधारणाएं ब्रिटिश पूंजीपतिवर्ग के चंगुल से भारतीय बाज़ार को मुक्त कराने की नवोदित भारतीय पूंजीपति की लालसा की ही उपज थीं। भारतेंदु हरिचंद्र की प्रसिद्ध पंक्ति, 'पै धन विदेस चलि जात यहै दुख भारी' इसी लालसा को प्रतिफलित करती थी। मुक्ति की इसी भावना से रोमानी भावबोध विकसित हुआ था। इस तरह यथार्थवाद और छायावाद का विकास साथ साथ हुआ क्योंकि दोनों का उत्स भारतीय समाज के मुक्ति आंदोलन में था। इसी दौर ने 'उसने कहा था' से ले कर 'मुक्ति मार्ग' और 'कफन' तक की अनेक यथार्थवादी कहानियां और अनेक उपन्यास दिये और इसी सामाजिक विकास के दौर ने छायावाद और प्रगतिवाद की रोमनी काव्यधारा भी पैदा की।

शील जी की चेतना में पहले भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के द्वारा सिरजी रोमानियत थी, वे तो अपने जीवन में भी स्वाधीनता सेनानी रहे थे, (न भी रहे होते तो भी वह रूमानियत होती ही) और आज़ादी के बाद वे मज़दूरवर्ग के मुक्ति दर्शन यानी मार्क्सवाद-लेनिनवाद से जुड़ गये थे, इसलिए निराला की तरह अपने विकास के पड़ावों में एक न एक तरह की मुक्ति का फलसफ़ा उनकी चेतना का अंग रहा ही आया। इसी वजह से मैं उन्हें रोमानी भावबोध का कवि कहता हूँ जो कि उनकी कविताओं को आज पढ़ कर महसूस होता है। रोमानी भावबोध में रूढ़ि और यथास्थिति के प्रति विद्रोह और 'नव' के प्रति ललक या स्वागतभाव अनिवार्य रूप से रहता है। निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी के काव्य को बारीकी से देखें तो वहां 'नव' या 'नया' का बहुत अधिक आग्रह है। शील जी की कविताओं में भी 'नव' या 'नया' का एक स्वप्न बार बार आता है। 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौर में लिखी कविता 'मांझी' का वाचक प्रकाश के बिंबों के माध्यम से 'पंथ नवीन' की चाह व्यंजित करता है :

ये नभ के तारे लहरों में
हंस हंस होते लीन
मांझी इस झिलमिल प्रकाश में,
खोजो पंथ नवीन । (आदमी का गीत, पृ. 40)

हमें याद है कि निराला भी अपनी वीणावादिनि से कह रहे थे कि 'नव गति, नव लय, ताल-छंद नव / नवल कंठ, नव जलद-मंद्र ख / नव नभ के नव विहग-वृंद को / नव पर नव स्वर दे।' महादेवी भी कहती थीं कि 'नभ मेरा सपना स्वर्ण-रजत / जग संगी अपना चिर विस्मित / यह शूल-फूल का चिर नूतन ... (दीपशिखा-51) या फिर 'रजकण पर जलकण हो बरसी / नवजीवन-अंकुर बन निकली!' (संधिनी-37) 'नया' या 'नव' का यह आग्रह छायावादी दौर से शुरू हो कर आज़ादी के बाद के कुछ बरसों तक चलता रहा। पत्र-पत्रिकाओं के नामों तक में यह झलकता था, 'नया पथ', 'न्यू एज', 'नया साहित्य' आदि इसके उदाहरण हैं। चीन में मुक्ति संघर्ष के दौरान 'नये' विशेषण की बाढ़ आ गयी थी। शील जी भी अदीबों से कहते हैं कि 'अदब के कारीगरो / आज ललकारता है मज़दूर तुम्हें / इन्कलाब के लिए / नयी जन्नत के लिए, लाल भोर के लिए / जो रेशम के कीड़े की तरह / नयी सभ्यता, नये अंदाज़ को जन्म देता है।' वे किसान का उद्बोधन करते हुए कहते हैं, 'क्षेत्र क्षीण हो जाये न साथी / हल की मूठ गहो / नवोन्मेष को मुखरित कर दो / अभ्यागत आगत को बल दो / अंकुर को जल-धूप / पवन से कह दो समुद्र बहो।' शीलजी की अन्य कई कविताओं में यह नवोन्मेष बार बार आता है, 'प्राणमय, नव जीवन कर दो' या 'उतरो, मुक्ति लिए, धरती को नव नव अंकुर दो।' क्रांतिकारी रोमानियत के हर दौर में यह घटित होता है और आगे भी घटित होगा। जब जब मुक्ति की विचारधारा समाज को विकास के अगले चरण में ले जाने के लिए अवाम की चेतना पर छाने लगेगी, रोमानियत भी आयेगी। नया मनुष्य और नया समाज बनाने का सपना फिर जगने लगेगा। शील जी के समय में भी वह सपना बार बार कौंध रहा था। इसीलिए तो उन्होंने अपने मशहूर गीत 'देश हमारा धरती अपनी' में लिखा था कि 'नया संसार बसायेंगे, नया इंसान बनायेंगे' :

सुख सपनों के सुर गूँजेंगे,

मानव की मेहनत पूजेंगे

नयी चेतना नये विचारों

की हम लिये मशाल

समय को राह दिखायेंगे

(वही, पृ. 125)

इस गीत में अगर रोमानियत देखनी हो तो पहले अंतरे पर गौर करें जिसमें वाचक कहता है, 'सौ सौ स्वर्ग उतर आयेंगे / सूरज सोना बरसायेंगे / दूध-पूत के लिए पहिन / कर जीवन की जयमाल / रोज़ त्योहार मनायेंगे।' यहां वाचक कुछ ज़्यादा ही प्रफुल्लित सपना देखता है जैसा कि उस गीत में हुआ करता था जो हम बचपन में गाते थे, 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा / झंडा ऊंचा रहे हमारा।' यह 'विश्व विजय'

का सपना भी यथार्थ पर आधारित नहीं था, उसी तरह सौ सौ स्वर्गों के उतरने का सपना भी कुछ ज़्यादा ही रोमानी था। केदारनाथ अग्रवाल की एक मशहूर कविता भी जो मजदूर के घर जन्मे बच्चे पर लिखी गयी थी इसी तरह कहती थी कि 'हाथी सा बलशाली बाहोंवाला और हुआ।' मगर वह दौर ऐसा ही था। पृथ्वी थियेटर के नाटकों से ले कर प्रगतिशील हिंदी फिल्मों तक में यह अतिरंजित सपना झलक रहा था। नयी कहानी के लेखक ज़रूर स्वतंत्र भारत के बदले हुए यथार्थ को समझ रहे थे और आलोचनात्मक यथार्थवादी तरीके से पूंजीवादी विकास के रास्ते पर समाज को ले जाने वाले शोषकशासकवर्गों को बेनकाब कर रहे थे।

शीलजी ने भारतीय समाज के भीतर व्याप्त विषमता, आम आदमी के दुख और उत्पीड़न आदि के यथार्थ को भी अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया जिसका आकलन मैंने अपने पहले लेख (उद्भावना, 37-38,1995) में किया था जिसका उल्लेख इस टिप्पणी के शुरू में ही है। यथार्थवाद की तकनीक को कविता में शील जी ने जिस तरह लिया था, उससे काव्यात्मक वक्रता के बजाय एक वक्तव्य सपाटता का शिकार बन कर रह जाता था। उसमें संवेदनात्मक ज्ञान या ज्ञानात्मक संवेदन नहीं होता था, इसलिए वे कविताएं प्रभाव नहीं डाल पाती थीं। उनकी 'लाल पंखों वाली चिड़िया' कविता का यह अंश देखें :

रोटी का अर्थतंत्र -

राष्ट्रों की सीमाएं तोड़ चुका है।

काम-दाम में बराबरी के लिए--

शोषणमुक्त मानवता के लिए,

विश्व सर्वहारा क्रांति उद्दीपित हो रही है।

(लाल पंखों वाली चिड़िया, पृ. 35)

यह अकारण नहीं है कि शीलजी ने, लाल पंखों वाली चिड़िया संकलन के एक हिस्से को 'विचारिकाएं' शीर्षक दिया था। उसमें एक कविता का शीर्षक है--'मार्क्सवाद':

सिर पर दुनिया उठाये -- वे,

चीख रहे हैं

मार्क्सवाद के मरने का सपना देख रहे हैं।

जैसे मार्क्सवाद --

कीट-पतंगा, पशु-पक्षी या आदमी हो।

समाजवाद--

पूँजीवादी लोकतंत्र के विरुद्ध--

साम्यवादी लोकतंत्र की एक प्रक्रिया है ।
जटिल किंतु संभाव्य । (लाल पंखों वाली चिड़िया, पृ. 88)

इसी तरह शील जी ने बहुत सारे दोहे लिखे जिनमें उन्हें कबीर की तरह शायद वक्तव्य देने में सुगमता महसूस होती होगी। उन्होंने अपनी प्रतिबद्धता को जाहिर करते हुए लिखा :

शोषक-शासक स्वार्थ में लाख करें प्रतिवाद

जन के लिए अभीष्ट है जनता का जनवाद (वही, पृ.101)

शील जी ने आप्त वचन की तरह यहां समाज की सारी समस्याओं के लिए 'जनता का जनवाद' बता दिया, किंतु इसकी संश्लिष्ट प्रक्रिया और उसमें होने वाली वर्गीय कृतारबंदी की चिंता उस तरह उनकी कविता में नहीं झलकती जैसी बेचैनी हमें मुक्तिबोध की कविता में दिखायी देती है। मुक्तिबोध की कविता जनता के जनवाद के लिए होने वाली नयी वर्गीय कृतारबंदी में मध्यवर्ग की भूमिका को अपरिहार्य मानती थी और इसीलिए मध्यवर्ग को मजदूरवर्ग का पक्ष लेने के लिए प्रेरित करती थी। शील जी की रचनाओं और पत्रों से यह ध्वनित होता है कि जैसे मध्यवर्ग सामंती सोच का शिकार है या 'बोर्जुआ कला' का प्रेमी है या प्रतिक्रियावादी है, इसलिए उसे खारिज किया जा सकता है। इस समय भी बहुत से जनवादी लेखक इस विकृत सोच की गिरफ्त में हैं। 'जनता का जनवाद' में केवल मजदूर और किसान ही नहीं, उनके साथ मध्यवर्ग और गैरइजारेदार पूंजीपति भी होंगे। इस नयी कृतारबंदी की तड़प केवल मुक्तिबोध की कविता में दिखायी देती है, बाकी प्रगतिशील कवियों में सिर्फ मजदूर किसान के प्रति एक तरह की नैतिक गुहार है, जैसी कि शील जी की एक कविता 'आशाओं की गली' में देखने को मिलती है कि, 'चलो मजदूरों, बढ़ो किसान / बनाओ मिल कर एक कमान / देश की आशा तुम पर लगी / बनाओ आशाओं की गली' (लाल पंखों वाली चिड़िया, पृ.68) मुक्तिबोध ने प्रगतिशील कवियों की रचनाओं की इस कमजोरी को गहराई में उतर कर पहचाना था। शील जी की कविताओं में भी प्रगतिवादी दौर की वे कमजोरियां हैं, उसी दौर की रोमानियत भी इसीलिए देखने को मिलती है। वे लिखते हैं :

क्रांति होनी है, होगी

अभी सिंगार कर रही है ।

वह - उसकी मांग की

लाल नदी,

किस समय जूड़ा खोल दे
लाल नदी से -

लाल सूरज निकल आये । (आदमी का गीत, पृष्ठ 20)

यह भावबोध एक तरह की निश्चिंतता से पैदा होता है, इसके लिए जो जटिल संघर्ष-बाहर और भीतर - घटित होना चाहिए, कुछ कर पाने या न कर पाने की जो तड़प या अपराधबोध पैदा होना चाहिए, वह मुक्तिबोध के अलावा बाकी प्रगतिशील साहित्य में नदारद है। क्रांति के प्रति शाब्दिक लगाव एक तरह की नियतिवादिता से परिचालित होता है, यह एक तरह का ऐतिहासिक नियतिवाद है कि 'क्रांति होनी है, होगी'। क्रांति का होना अनुकूल वस्तुगत परिस्थिति के पैदा होने और मजदूरवर्ग की नेतृत्वकारी पार्टी द्वारा वैज्ञानिक तरीके से तय की गयी रणनीति और कार्यनीति के अमल की यथेष्ट तैयारी पर निर्भर करेगा। लोहा भी गर्म हो और हथौड़ा भी सही गिरे तब कहीं लोहे को वांछित आकार दिया जा सकता है, अपने आप सड़ा लोहा नया आकार ग्रहण नहीं कर लेगा।

रचनाकाल : दिसंबर 2007

त्रिलोचन की कविताई

धरती से लेकर उस जनपद का कवि हूं तक के काव्य संकलनों की यात्रा में त्रिलोचन की कविताई का विकास तलाशना बहुत दुरूह और श्रमसाध्य काम है। त्रिलोचन की कविता का पहला दौर वह था जब भारत अपनी आज़ादी की जद्दोजहद में लगा था। 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा जहां मुक्तिकामी ताकतों को संघर्षवती चेतना से लैस करता है वहीं कलाकारों और रचनाकारों में रूमनियत भी लाता है। विश्वसाहित्य इस बात का प्रमाण है कि मानव इतिहास में जब एक युग से दूसरे युग में प्रवेश करने के मुक्तिसंघर्ष छिड़े हैं साहित्य में मुक्त कल्पना का खेल देखने को मिला है। फ्रांस की क्रांति ने समूचे यूरोप में नयी साहित्यधारा को जन्म दिया और रूमनियत के रूप में कल्पना की मुक्ति व्यक्त हुई। इंग्लैंड में नवआभिजात्यवादी चौखटे और बंधी बंधायी काव्यशैलियां टूटीं और रोमांटिक साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। 'समानता, बंधुत्व और स्वतंत्रता' का नारा साहित्य में भी प्रतिफलित हुआ। अठारवीं सदी में फ्रांसीसी क्रांति से पहले की कविता शहर की चारदीवारी में घिरी रही, शहरी विषय ही कविता के लिए उपयुक्त विषय माने गये, एक खास छंद ही उपयुक्त छंद माना गया। मगर फ्रांसीसी क्रांति के बाद कविता आम जन की बात करने लगी, उसने देहाती जीवन और भूखे नंगे लोगों को भी कविता का विषय बनाया क्योंकि उनकी शक्ति का एहसास समूचे यूरोप को हो गया था। इस एहसास ने कवियों में कल्पना की उड़ान को जगाया। यही वजह है कि रूमानी कविता में आकाशचारी बिंबों की भरमार मिलेगी। बादल, चिड़िया, इंद्रधनुष, चांद, सितारे, हवा, आकाश आदि से रूमानी कविता भरी पड़ी है। आज़ादी के दौर की हमारी कविता में कल्पना की उन्मुक्ति उड़ान सिर्फ छायावादी कवियों में ही हो, ऐसा नहीं है। छायावादी कविता के अगले चरण में यानी प्रगतिवादी कविता में भी हमें इस रूमनियत के दर्शन लगातार होते हैं। साम्राज्यवादविरोधी रचनाशीलता जितनी अधिक अपनी धरती से जुड़ी थी, उतनी अधिक अपने आकाश से भी। त्रिलोचन की कविता में भी हमें वह धरती और आकाश देखने को मिलता है जिसकी पहचान और जिसका एहसास भारत के स्वाधीनता आंदोलन ने कराया था।

आज़ादी के बाद के दौर की कविताओं में हमें एक तब्दीली दिखायी देती है और वह तब्दीली है कथ्य में ठंडापन और शिल्प का अतिरिक्त आग्रह। आज़ादी के बाद कवि का काम सिर्फ कलात्मक शब्दरचना भर रह गया, राजनीतिक स्तर पर उसे नव निर्माण का और योजनाबद्ध विकास का आश्वासन

मिला, इसलिए रचनाकार का काम किसी तरह की नुक़्ताचीनी का नहीं था, उसका सरोकार भी राजनीति से नहीं था, वह काम तो नेहरू के लिए छोड़ दिया गया था, कलाकार तो सिर्फ़ रूप का पुजारी था और इसलिए उसके लिए काव्य सिर्फ़ शब्द था जो हिमाविद्ध था या ठंडा लोहा। उसकी वह ऊर्जा और उत्ताप गायब था जो आज़ादी के संग्राम ने उसे दिया था। इसके लिए वह दोषी नहीं था, सामाजिक हालात ही उसे इस ओर प्रेरित कर रहे थे। त्रिलोचन की कविता में भी शब्द और शिल्प का यह आग्रह हमें उनकी छठे दशक की रचनाओं में बराबर मिलता है। मुक्तिबोध ने अपनी उस दौर की एक कविता में ठीक ही कहा था :

कविता तब मोतिया सीप थी
 धरती के उस एक अश्रु के लिए
 कि जो नभ की कमजोरी देख गला था।
 लेकिन नभ तो
 आसमान था---
 स्वयं उतर वह
 झरनों, नदियों, झीलों के नीले प्रवाह के रूपों में
 धरती के उर पर पिघल चला था।

(मुक्तिबोध रचनावली-1/315-316)

त्रिलोचन के, उस जनपद का कवि हूँ संकलन में उनकी दूसरे दौर की कविताएं हैं जिनमें छठे दशक की हमारी मनःस्थिति और शब्दशिल्प के प्रति अतिरिक्त आग्रह मिलता है। त्रिलोचन के काव्यकर्म में यही वह दौर है जिसमें सानेट का प्राचुर्य है। नये शिल्प की तलाश जो कि ज़्यादातर 'सानेट सानेट के लिए' की सीमा तक पहुंच गयी है, रचनाकारों के आसपास की सामाजिक चेतना के कारण बदली हुई मनोदशा को ही व्यक्त करती है क्योंकि कवि को लगता है कि आज़ादी

हासिल कर लेने के बाद 'बसंत आ गया' :

प्राणाधिके, बसंत आ गया । गूंज रहा था
 प्राणों में जो नव जीवन स्वर इस नयनों में
 आज रूप बन कर समा गया ।

छठे दशक में रूप की तलाश सिर्फ़ अज्ञेय या भारती ही नहीं कर रहे थे, अकेलेपन और सूनेपन का राग आधुनिकताबोध के कवियों की चेतना का ही हिस्सा नहीं था, वह उस मोहप्लवित समाज का स्वर था जो आश्वासनों के सहारे सुनहरे कल का सपना ले रहा था। कवि कलाकार भी अपने आसपास के समाज से कट कर एकाकी होने में ही, असंग होने में और अकेले में साधना में लग जाने में ही अपना अस्तित्व

तलाश रहा था। त्रिलोचन की संवेदना ने भी यह स्वीकार किया कि 'जीवन का क्रम अकस्मात् कुछ और हो गया, अब तक जो कुछ पाया उसका मूल्य खो गया।' इसीलिए त्रिलोचन के वाचक को 'पथ सूना' लगता है :

पीछे मुड़कर देख रहा है, पथ सूना है
जिस पर चलता रहा और चलता जाऊंगा
आगे भी। मुझको उस सीमा को छूना है
जहां असीम मुसकराता है। मैं गाऊंगा
जीवन के एकांत क्षणों में।

एक अन्य सानेट का वाचक कहता है कि 'न जाने कैसा कुछ सूनापन प्राणों में भर आया है।' इस तरह एक और सानेट में वाचक बताता है कि 'सूनापन पाया, अपने आसपास'। इस सूनेपन को भरने के लिए कवि प्रकृति की ओर मुड़ता है और प्रकृति से फिर मानव पीड़ाओं की ओर। यह प्रक्रिया करीब-करीब ऐसी ही बन पड़ी है जैसी हमें अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ में दिखायी पड़ती है। हालांकि त्रिलोचन ने अपने सानेटों में शेक्सपीयर की शैली भी अपनायी है, और वर्ड्सवर्थ की भी, मगर संवेदना का उतार-चढ़ाव मूलतः वर्ड्सवर्थ जैसा है। त्रिलोचन भी जब सूनापन झेलते हैं तो वर्ड्सवर्थ की तरह प्रकृति की ओर मुड़ते हैं। छठे दशक में लिखे गये उनके सानेटों में हमें यही प्रवृत्ति दिखायी देती है। प्रकृति का हर रंग-रूप त्रिलोचन को मोहता है, वह प्रकृति बसंत की हो, शरद की हो, या वर्षा की, त्रिलोचन के सानेटों में वह खूब रमती है :

फूलों की चांदनी नीम में जो आयी है
खींच रही है सुरभि-डोर से मेरे मन को
बरबस अपनी ओर, भला कैसे इस जन को
कपापात्र कर दिया सुखवि ने जो छापी है
टहनी टहनी पर

इस दौर की कविताओं में प्रकृति की ओर पलायन नहीं है, उसका आबर्वेशन है। इस ममता से प्रकृति को निहारना त्रिलोचन के वाचक को सुख देता है। आज़ादी के बाद जिस तरह के समाज की कल्पना, समता पर आधारित जिस व्यवस्था की कल्पना कविजनों ने की थी वह तो दिखायी दे नहीं रही थी, आशवासनों का आसव ज़रूर पिलाया गया था जिसके नशे में प्रकृति ही-बंधनहीन प्रकृति ही-सुकून दे सकती थी। इसलिए यह आकस्मिक नहीं है कि कवि या तो 'शिरीष का फूल' देखता रहता है या 'बाढ़ चांदनी की आयी' देखता है या फिर देखता है कि---

संध्या ने मेघों के कितने चित्र बनाये--
हाथी, घोड़े, पेड़, आदमी, जंगल, क्या क्या
नहीं रच दिया और कभी रंगों से क्रीड़ा
की, आकृतियां नहीं बनायीं।

त्रिलोचन के एक अन्य सानेट-संकलन, शब्द में संवेदना का अगला पड़ाव नज़र आता है। ये सानेट 1962 के प्रारंभिक महीनों का उत्पाद हैं। ज़ाहिर है कि इस दौर तक पहुंचते पहुंचते कवि का अनुभवसंसार और अधिक व्यापक हुआ है। मोहभंग की प्रक्रिया ने त्रिलोचन पर भी असर डाला, युवा कवियों में इस मोहभंग ने निषेधवादी रूप अख़्तियार किया था, त्रिलोचन ने इसे अपने तरीके से बयान किया :

उन लहरों पर हूं जिनके तल में भाषाएं
कितनी बैठ चुकी हैं, कितने सुंदर सपने
बिला चुके हैं पानी बन कर, सत्य कभी का
असत् हो चुका है; अब नयी-नयी आशाएं
दिग्दिगंत रूप संवार रही हैं, भाव अभी का ।

हालांकि इन सानेटों में भी कवि बार-बार प्रकृति की ओर मुड़ता है, उसे वहां अब भी सुकून मिलता है, मगर साथ ही इस व्यवस्था के चरित्र की पहचान भी होती दिखायी देती है और कवि इसकी जगह बेहतर व्यवस्था का सपना भी संजोने लगता है :

यहां बाप दादों को नहीं हमें रहना है।
हमको अपनी आंखों देख-रेख करनी है
अपनी अपनों की अब तो इतिहास पुराना
संग्रहालयों की शोभा है-- सच कहना है
इस जीवन का, घर की नयी नींव धरनी है,
धारण करना है, नवीन मानव का बाना।

नवीन मानव का सपना संजोये त्रिलोचन का वाचक कभी आशा में और कभी निराशा में अपनी झीनी-झीनी कविता की चादर बुनता है और 'शब्द' को कुछ इस तरह रोपता है जिनमें केदारनाथ अग्रवाल की कविता की तरह फूल नहीं रंग बोलते हैं (शब्द संग्रह उन्हें ही समर्पित भी है)। त्रिलोचन के इन रंगों में ही कहीं न कहीं आशावाद भी फूटता है :

जीवन के जयगान पराजय में भी दूने
होंगे, मन का खेल आप ही उतर जायगा,
दिवस रहे या रात रहे यात्री को इससे

क्या--सारा आकाश पंख से अपने छूने
विहग अरुद्ध उड़ान भरेंगे, मनुज पायगा
पद पद पर संदेश नया मिलकर जिस तिस से।

ताप के ताए हुए दिन संग्रह की कविताओं में त्रिलोचन का रचना व्यक्तित्व अपनी समग्रता में पेश होता है। इस संग्रह में उनकी छोटी-छोटी कविताएं, सानेट और कुछ लंबी कविताएं भी हैं। छोटी कविताएं ज्यादातर चित्रात्मक हैं, उन्हें अर्थों में बांधना न तो संभव है और न ही उसकी ज़रूरत है। इन चित्रों में कहीं 'सरसों के फूल' हैं तो कहीं 'जलरुद्ध दूब' है, कहीं 'केले के पत्ते' हैं तो कहीं 'काई' है और कहीं मानव 'संबंधों के हवामहल' भी हैं। केदारनाथ सिंह के शब्दों में 'त्रिलोचन के शिल्प की एक खास बात यह है कि वे किसी भी वस्तु का प्रतीकवत् प्रयोग नहीं करते। अपनी कविता में, वे अपनी सारी काव्यात्मक ज़िम्मेदारी के साथ उसे 'वस्तु' ही बने रहने देते हैं।' कहने का तात्पर्य यह है कि त्रिलोचन यथार्थ को प्रायः 'प्रकृतिवादी ढंग' से और अपने पूरे भोलेपन से पेश करने के अभ्यस्त हैं। जिस तरह निराला ने परवर्ती दौर में यथार्थ के भीतर छिपे व्यंग्य को वाणी दी थी, उसी परंपरा में त्रिलोचन की कुछ कविताएं भी रखी जा सकती हैं। *ताप के ताए हुए दिन* में शामिल सानेट भी त्रिलोचन के इस सामाजिक व्यंग्य की झलक दे देते हैं। 'चुनाव के दिन' या 'गधे की याद' में लिखे गये सानेट इस संदर्भ में देखे जा सकते हैं।

निराला की तरह त्रिलोचन ने भी 'मैं शैली अपनायी' है और वर्ड्सवर्थ की तरह आत्मचरितात्मक लंबी कविताएं लिखी हैं जिनमें 'नगई मेहरा' विशेष महत्व की कविता है। वर्ड्सवर्थ ने जिस तरह अपनी 'माइकेल' शीर्षक कविता में इंग्लैंड के देहाती जीवन और उसके बदलते परिवेश को चित्रित किया है, उसी तरह त्रिलोचन ने 'नगई मेहरा' में भारत के देहात का एक अद्भुत चित्र पेश किया। गांव की जिंदगी में व्याप्त विषमता, रूढ़ियां और पिछाड़पन और उसके सकारत्मक पहलू भी इस कविता में चित्रित हुए हैं। कवि ने अपनी तरफ से यथार्थ में न तो कुछ अतिशय जोड़ने की कोशिश की है और न ही 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' की भावुकता का शिकार होकर उसने वहां की जिंदगी को आदर्शीकृत ही किया है। नगई मेहरा के चरित्र में जो अंतर्विरोध है (यानी *रामचरित मानस* से प्रेम और पंच परमेश्वर में आस्था एक ओर, और सास को बिठा लेना दूसरी ओर) वह भारत के देहात के भीतर परंपरा भंजन की दुहरी प्रवृत्तियों का आधार बना है जिस पर स्थिर होकर नगई मेहरा अपने वक्त को अतिक्रमित कर गया।

त्रिलोचन की कविता का अपना व्यक्तित्व है जो किसी गहरे दर्शन के सूत्र की मदद से यथार्थ को पहचानने और उसमें अर्थ भरने की कोशिश नहीं करता। वह वस्तुवादी चौखटे में चित्र खींचने और, विष्णुचंद्र शर्मा के शब्दों में, शब्दों का स्थापत्य पेश करने में माहिर रचना-व्यक्तित्व है। यही वजह है कि त्रिलोचन की कविता में कहीं कोई तनाव नहीं, मन को झकझोर देने वाला कोई झंझावात नहीं। शब्दों को सजा कर और उन्हें तराशकर पेश करने की आदत कई बार उन्हें प्रकृतवादी कलाकार बना देती है। आज कलाकार के लिए यथार्थ को ज्यों को त्यों पेश कर देना काफी नहीं है, उसमें उन अर्थों को भरने की कोशिश भी होनी चाहिए जो हमें गहरे तक छूते हैं। मौजूदा जनवादी कवियों को त्रिलोचन की यथार्थ को चित्र में बांधने की कला मदद कर सकती है किंतु ये चित्र तक तब अधूरे रहेंगे जब तक इनमें सामाजिक यथार्थ के अर्थ अनुषंग प्रस्तुत नहीं किये जायेंगे। शायद आज की पीढ़ी इस मामले में काफी सजग है, मगर इतने भर से संतोष कर लेना काफी नहीं है। अपनी परंपरा से तमाम सकारात्मक तत्वों को आत्मसात करके हिंदी कविता को स्वस्थ जनवादी दिशा में ले जाने की ज़िम्मेदारी आज की पीढ़ी पर है। इस ज़िम्मेदारी को किसी तरह के फ़ार्मूलों से नहीं निभाया जा सकता है। इसे पूरा करने के लिए सामूहिक सोच और गहन आत्मसंघर्ष करने की हमें ज़रूरत है। त्रिलोचन शास्त्री इसी अर्थ में हमारे कवियों के कवि उसी तरह रहेंगे जैसे मुक्तिबोध और शमशेर।